नारद-भक्ति-सूत्र

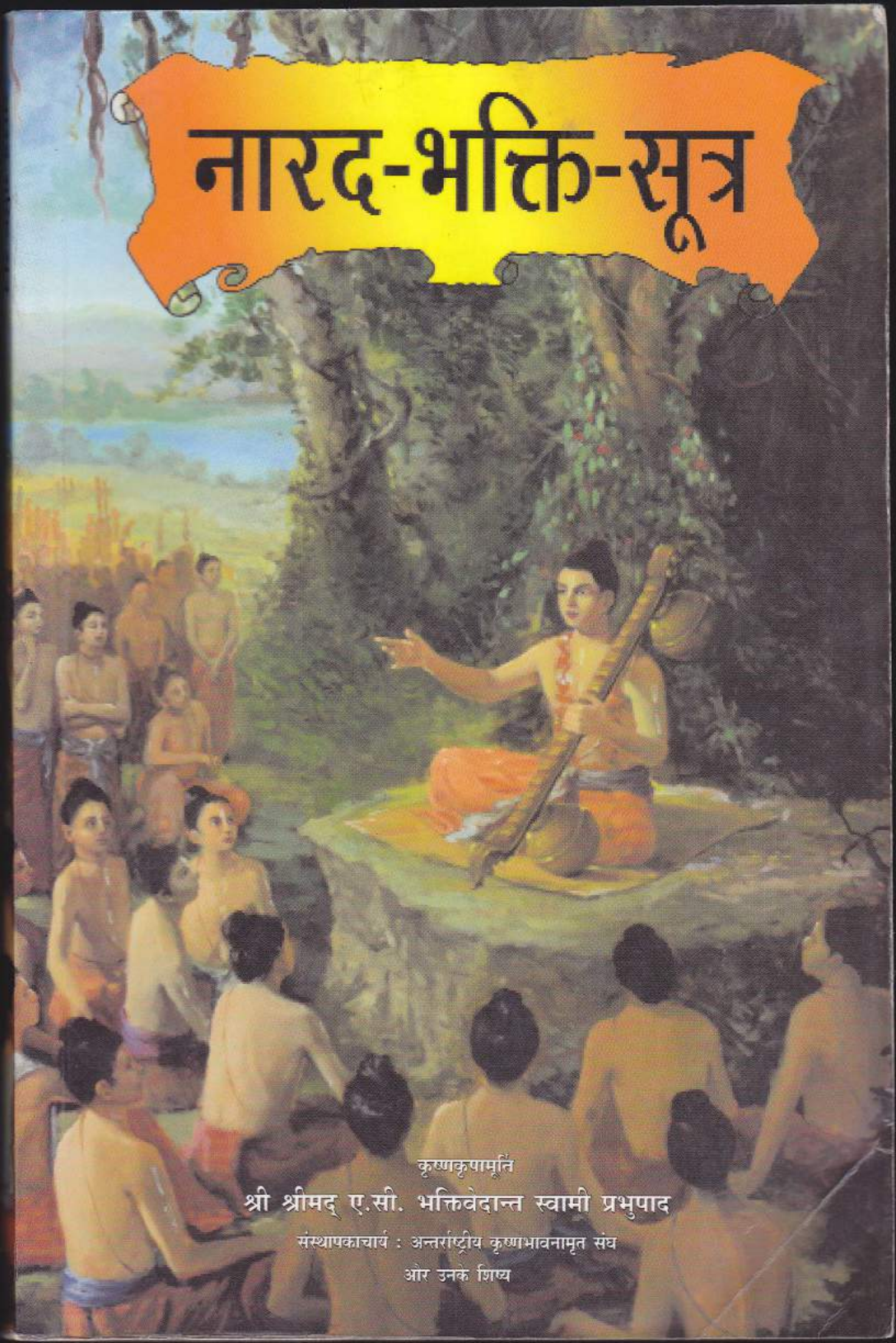

कृष्णकृपामूर्ति
श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
संस्थापकाचार्य : अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ
और उनके शिष्य

नारद-भक्ति-सूत्र

अनुक्रमणिका

परिचय ..... *ix*

अध्याय १ ..... १

भक्ति का महत्त्व

सूत्र १ ..... १
सूत्र २ ..... ४
सूत्र ३ ..... ८
सूत्र ४ ..... १०
सूत्र ५ ..... ११
सूत्र ६ ..... १४
सूत्र ७ ..... १७
सूत्र ८ ..... १९
सूत्र ९ ..... २१
सूत्र १० ..... २५
सूत्र ११ ..... २५
सूत्र १२ ..... २७
सूत्र १३ ..... ३२
सूत्र १४ ..... ३३

अध्याय २ . . . . . ३७

भक्ति की परिभाषा

सूत्र १५ . . . . . ३७
सूत्र १६ . . . . . ३८
सूत्र १७ . . . . . ४१
सूत्र १८ . . . . . ४२
सूत्र १९ . . . . . ४५
सूत्र २० . . . . . ४८
सूत्र २१ . . . . . ५०
सूत्र २२ . . . . . ५२
सूत्र २३ . . . . . ५६
सूत्र २४ . . . . . ५९
सूत्र २५ . . . . . ६२
सूत्र २६ . . . . . ६५
सूत्र २७ . . . . . ६६
सूत्र २८ . . . . . ६९
सूत्र २९ . . . . . ७१
सूत्र ३० . . . . . ७३
सूत्र ३१-३२ . . . . . ७५
सूत्र ३३ . . . . . ७८

अध्याय ३ . . . . . ८१

प्राप्ति का साधन

सूत्र ३४ . . . . . ८१
सूत्र ३५ . . . . . ८२
सूत्र ३६ . . . . . ८५

सूत्र ३७ ..... ८७
सूत्र ३८ ..... ९०
सूत्र ३९ ..... ९२
सूत्र ४० ..... ९५
सूत्र ४१ ..... ९६
सूत्र ४२ ..... ९८
सूत्र ४३ ..... ९९
सूत्र ४४ ..... १०१
सूत्र ४५ ..... १०४
सूत्र ४६ ..... १०६
सूत्र ४७ ..... १०८
सूत्र ४८ ..... १११
सूत्र ४९ ..... ११३
सूत्र ५० ..... ११६

अध्याय ४ ..... ११८

शुद्ध एवं मिश्र भक्ति

सूत्र ५१ ..... ११८
सूत्र ५२ ..... १२०
सूत्र ५३ ..... १२२
सूत्र ५४ ..... १२५
सूत्र ५५ ..... १२६
सूत्र ५६ ..... १२९
सूत्र ५७ ..... १३१
सूत्र ५८ ..... १३३
सूत्र ५९ ..... १३५
सूत्र ६० ..... १३७
सूत्र ६१ ..... १३८

सूत्र ६२ ..... १४०
सूत्र ६३ ..... १४३
सूत्र ६४ ..... १४५
सूत्र ६५ ..... १४७
सूत्र ६६ ..... १४८
सूत्र ६७ ..... १५०
सूत्र ६८ ..... १५३
सूत्र ६९ ..... १५५
सूत्र ७० ..... १५८
सूत्र ७१ ..... १५९
सूत्र ७२ ..... १६१
सूत्र ७३ ..... १६३

अध्याय ५ ..... १६६

सिद्धि की प्राप्ति

सूत्र ७४ ..... १६६
सूत्र ७५ ..... १६७
सूत्र ७६ ..... १७०
सूत्र ७७ ..... १७१
सूत्र ७८ ..... १७४
सूत्र ७९ ..... १७६
सूत्र ८० ..... १७९
सूत्र ८१ ..... १८०
सूत्र ८२ ..... १८३
सूत्र ८३ ..... १८६
सूत्र ८४ ..... १८९

लेखक-परिचय १९२

परिचय

१९६७ में कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्री श्रीमद् अभय चरणारविन्द भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद ने *नारद-भक्ति-सूत्र* के चौरासी सूत्रों में से तेरह का अनुवाद एवं तात्पर्य लेखन किया। १९८९ में, अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ (इस्कॉन) के प्रशासनिक आयोग ने अपने वार्षिक सत्र में मुझे यह पुस्तक पूर्ण करने का परामर्श दिया। मैं यह कार्य पाकर प्रसन्न हुआ, विशेषकर क्योंकि *नारद-भक्ति-सूत्र* के प्राथमिक लेखन में श्रील प्रभुपाद के साथ मैं भी संलग्न था।

मैं उन अन्वेषकों के छोटे से गुट का भाग था, जो १९६६ के परवर्ती भाग में श्रील प्रभुपाद के साथ उनके न्यूयार्क शहर स्थित २६ सेकेन्ड एवेन्यू पर एक गोदाम के अगले भाग (स्टोरफ्रंट) में स्थापित मंदिर में युक्त हुआ था। एक बार हम *प्रेम-दर्शन—देवर्षि नारद-विरचित भक्तिसूत्र* के गीता-प्रेस संस्करण को टटोलने लगे। हममें से कुछ उन सूत्रों के अमृत और सरलता के प्रति आकृष्ट थे। उन दिनों हम नौसिखिए अनुयायियों के लिए भारतीय संस्कृत पुस्तकों के सभी प्रकार के अनुवाद चुन लेना अस्वाभाविक न था। हम सोचते थे कि कोई भी हिन्दू तत्त्व सम्माननीय तथा कृष्णभावनामृत के ही अंतर्गत था। किन्तु शीघ्र ही श्रील प्रभुपाद ने हमें भेद करना स्पष्ट किया। हमने जाना कि कई पुस्तकें मायावादियों (स्वामियों, गुरुओं एवं पंडितों के वेष में नास्तिक), के कार्य थे। इनमें से कुछ पुस्तकों के प्रति हमारे आकर्षण को हटाना कठिन था, किन्तु जब श्रील प्रभुपाद ने समझाया कि कौनसी पुस्तक या गुरु अप्रमाणिक है, तो हमने सदैव यही किया।

परन्तु जब मैंने श्रील प्रभुपाद को *नारद-भक्ति-सूत्र* पुस्तक दिखाई और बताया कि मुझे यह अच्छी लगी है, तो उन्होने मुझे प्रोत्साहन दिया और कहा कि वे इसका अनुवाद कर सकते हैं।

नारद-भक्ति-सूत्र के हमारे संस्करण में श्री श्रीराधा-कृष्ण का एक सुंदर रंगीन चित्र था। वे लगभग आठ वर्ष की आयु के युवा दिखते थे, एवं एक गाय के साथ यमुना तट पर सौम्यतापूर्वक खड़े थे। मैं उस चित्र को एक फोटोग्राफी की दुकान पर ले गया एवं बारह प्रतिलिपियाँ बनवा लीं। श्रील प्रभुपाद की अनुमति से मैंने

उनके प्रत्येक दीक्षित शिष्य को एक एक फोटो दे दी। वह इस्कॉन सदस्यता की फोटो के समान हो गई और भक्तों ने उसे अपने व्यक्तिगत मंदिरों में रखने में प्रयोग किया।

१९६७ के आरम्भ में जब श्रील प्रभुपाद हमारे न्यूयार्क घर को छोड़कर सैन फ्रान्सिस्को चले गये तो मैंने उनको *नारद-भक्ति-सूत्र* के अनुवाद हेतु पूछने के लिए लिखा। १० फरवरी, १९६७ का लिखा उनका उत्तर निम्नलिखित है :

> हाँ, मुझे भक्ति-सूत्र (मूल संस्कृत पाठ सहित) की एक प्रति तुरंत भेजो। मैं तुरंत टीका लिखना प्रारम्भ करूँगा।

नारद-भक्ति-सूत्र का श्रील प्रभुपाद द्वारा अनुवाद प्रारंभ में गति से चला। उन्होंने डाक से अनुवाद के श्रुतिलेख के टेप भेजे एवं मैंने उनके प्रधान कार्य, *श्रीचैतन्यमहाप्रभु* का *शिक्षामृत* के टेपों के साथ ही उनका भी अनुलेखन कर लिया। आरंभ से ही यह ज्ञात था कि *नारद-भक्ति-सूत्र* श्रील प्रभुपाद के लिए 'अतिरिक्त' कार्य के समान था। किन्तु उसकी अपनी मोहकता थी, और प्रभुपाद ने अपने निजी अनानुकरणीय ढंग से उसको स्वीकार किया। प्रथम सूत्र का अनुवाद पाकर मैं विस्मित हुआ कि श्रील प्रभुपाद ने किस प्रकार *भक्ति* शब्द का अनुवाद किया है। जिस संस्करण का वे प्रयोग कर रहे थे, उसमें *भक्ति* को "भक्ति" या "दिव्य प्रेम" में अनूदित किया गया था। किन्तु श्रील प्रभुपाद ने *भक्ति* का अनुवाद किया, "भक्तिमय सेवा" इस एक शब्द से उन्होंने निर्देशित किया कि *भक्ति* सजीव एवं व्यक्तिगत होती है। *भक्ति* का एक अव्यक्तिगत "प्रेम" की स्थिति से साम्य होने का कोई संकेत उन्हें सहन नहीं था।

यह महत्त्वपूर्ण था कि श्रील प्रभुपाद ने अपने पहले तात्पर्य का प्रारंभ *भगवद्गीता,* जो कि *भक्ति-योग* की शिक्षा का अग्रणीय शास्त्र है, के उल्लेख से किया। *नारद-भक्ति-सूत्र* अथवा भगवद्-भक्ति पर किसी भी अन्य ग्रंथ को *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण की प्रत्यक्ष शिक्षाओं का अवलंबन होना चाहिए। स्वभाववश, सूत्रों की व्याख्या होनी चाहिए। जैसा भगवान् चैतन्य ने *वेदांत-सूत्र* की चर्चा करते हुए समझाया था, सूत्रों का सीधा अर्थ होता है, किन्तु उनकी संक्षिप्तता भ्रान्त टीकाकारों को गलत अर्थ देकर उसे तोड़-मरोड़ देने का अवसर देती है। *नारद-भक्ति-सूत्र* के भक्तिवेदांत तात्पर्य पढ़ते हुए हम कितने सुरक्षित थे, एवं परम पुरुष की शुद्ध भक्ति विहीन टीकाकारों द्वारा इन सूत्रों को पढ़ना कितना भयंकर है!

उनके दूसरे कार्यों के समान, *नारद-भक्ति-सूत्र* पर श्रील प्रभुपाद के तात्पर्य

गुरु-शिष्य परम्परा की शिक्षाओं से पूर्णतः एकमत होते हुए भी उनके निजी अनुभवों से भरेपूरे थे।

उनका एक विशिष्ट वाक्य जिसने मुझे आकृष्ट किया, भक्ति में उत्साह के संदर्भ में था। पाँचवें सूत्र पर टीका करते हुए श्रील प्रभुपाद ने उत्साह की एक ऐसे शक्तिशाली इंजन से तुलना की जिसका प्रयोग ठीक प्रकार से होना चाहिए। उन्होंने लिखा, "किन्तु, यदि कोई भगवान् की सेवा में अपने उत्साह में निराश हो जाता है, तो उस निराशा को भी त्याग देना चाहिए।" नवदीक्षित भक्त होने के नाते मैं हताशा के खतरे से भलीभाँति परिचित था। किन्तु जिस प्रकार कोई गम्भीर साधक अपनी जिह्वा तथा अन्य इंद्रियों का संयम करता है, उसी प्रकार व्यक्ति को अत्यधिक निराशा या हताशा में नहीं पड़ना चाहिए। श्रील प्रभुपाद से यह सुनना एवं यह दृढ़ता पाना कि वह हमारे नियंत्रण में ही है, सांत्वनादायक था—हम हताशा की अनंत लहरों के सामने असहाय नहीं हैं।

बस, व्यक्ति को धैर्यपूर्वक विधि-विधानों का पालन करना है "जिससे वह दिन आए जब उसे अकस्मात, भक्तिमय सेवा की सर्वसिद्धि प्राप्त हो जाए।"

मुझे स्वीकार करना होगा कि श्रील प्रभुपाद के *नारद-भक्ति-सूत्र* की प्रसन्नतापूर्वक प्रगति देखते हुए मैं उसके प्रति व्यक्तिगत रूप से आसक्त हो गया था। मैं अवलोकन कर रहा था कि श्रील प्रभुपाद जो सामग्री *श्रीचैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत* में डाल रहे थे, वही *नारद-भक्ति-सूत्र* में भी दृष्टिगोचर हो रही थी। किन्तु मुझे नहीं लगा कि इसमें कोई त्रुटि है। तथापि एक बिन्दु पर श्रील प्रभुपाद विचारने लगे कि *नारद-भक्ति-सूत्र* किंचित अनावश्यक था, कम से कम जब तक कि वे *श्रीचैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत* पर कार्यरत थे। बारहवें सूत्र पर उनके तात्पर्य से मुझे इसका संदेह हो चला था : "आध्यात्मिक ज्ञान के कई प्रामाणिक ग्रंथ हैं, किन्तु वे सारे न्यूनाधिक *भगवद्गीता* एवं *श्रीमद्भागवतम्* के परिशिष्ट हैं। *नारद-भक्ति-सूत्र* भी *भगवद्गीता* एवं *श्रीमद्भागवतम्* का सार है। अतः भक्तिमय सेवा का प्रारंभ इन दो महत्त्वपूर्ण दिव्य ज्ञान-ग्रंथों का श्रवण है।"

तब, १९६७ के मार्च में, जब श्रील प्रभुपाद सैन फ्रांसिस्को में ही रह रहे थे, उन्होंने मुझे यह पत्र लिखा :

> कृपया मेरा आशीर्वाद स्वीकार करो। मैंने *नारद-भक्ति-सूत्र* एवं *श्रीचैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत* की प्रतिलिपियाँ देखी हैं। दोनों ही अच्छे बने हैं। मैं सोचता हूँ कि हम पहले *श्रीचैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत* पूरा कर लें और तदोपरांत *नारद-भक्ति-सूत्र* को पुनः लें। *नारद सूत्रों* की विषयवस्तु *श्रीचैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत* में ही संगृहित है।

मैंने तुम्हें *शिक्षामृत* के द्वितीय भाग हेतु सामग्री भेज दी है। कृपया मुझे अपने द्वारा टाइप की हुई प्रतिलिपि भेजते रहो। मैं तुमसे समाचार पाकर प्रसन्न होऊँगा।

और इस प्रकार *नारद-भक्ति-सूत्र* पर श्रील प्रभुपाद का कार्य स्थगित हो गया, तथा फिर कभी पुनः प्रतिपादित नहीं हुआ। यह लेखक का व्यक्तिगत चयन था, जो *श्रीचैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत* पर केंद्रित करना चाहते थे। किन्तु इसको हमें *नारद-भक्ति-सूत्र* के तिरस्कार के रूप में नहीं देखना चाहिए। श्रील प्रभुपाद *नारद-भक्ति-सूत्र* को पुनः लेना चाहते थे। इसलिए बीस वर्षों से अधिक के पश्चात् श्रील प्रभुपाद की प्रामाणिकता पर हम वह कार्य फिर प्रारंभ कर रहे हैं। इस कार्य को पूर्ण करने में हमने जो कुछ भी लिखा है, वह हमनें श्रील प्रभुपाद के छात्र के रूप में, उनके द्वारा *श्रीमद्भागवतम्, भगवद्गीता* एवं *चैतन्य-चरितामृत,* तथा *भक्तिरसामृतसिन्धु* के सार अध्ययन और *भागवतम्* के दसवें स्कन्ध (*पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण*) के टीकाकृत अनुवादों का प्रयोग करके ही लिखा है।

अपनी संक्षिप्तता, विश्वव्यापकता एवं भगवान् कृष्ण के प्रति पूर्ण शरणागति पर बल देने में *नारद-भक्ति-सूत्र* की विशिष्ट मनोहरता है। सूत्र पक्के हैं तथा सरलता से स्मरण रखे जा सकते हैं एवं निश्चिंतता से भक्तिमूलक चर्चाओं एवं प्रचार कार्य में उद्धृत किए जा सकते हैं। श्रील प्रभुपाद ने अपने लेखन में कई बार *नारद-भक्ति-सूत्र* का उद्धरण दिया है, जैसे *श्रीचैतन्य महाप्रभु का शिक्षाष्टक* के इस वाक्य में : "*नारद-भक्ति-सूत्र* में कहा गया है कि जो कृष्णाभावनामृत में प्रगति के बारे में बहुत गम्भीर है उसकी कृष्ण को जानने की इच्छा भगवान् की कृपा से शीघ्र ही पूर्ण हो जाती है।"

प्रस्तुत मुद्रण का प्रधान महत्त्व यह है कि श्रील प्रभुपाद की साहित्य-कृतियों में से एक और कृति अब उनके बढ़ते पाठकगणों हेतु पुस्तक रूप में उपलब्ध है। गोपीपराणधन प्रभु से और मुझ से प्राशासनिक आयोग की *नारद-भक्ति-सूत्र* को पूरा करने की विनति हमारे ऊपर उनकी कृपा ही है। हम प्रार्थना करते हैं कि हम श्रील प्रभुपाद के मनोनीत प्रयोजनों से पथभ्रष्ट न हों तथा आशा करते हैं कि *नारद-भक्ति-सूत्र* का प्रस्तुत संस्करण प्रत्येक पढ़ने वाले के हृदय में आनंद एवं ज्ञान लाए।

—सत्स्वरूप दास गोस्वामी

अध्याय १

भक्ति का महत्त्व

सूत्र १

अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ॥१॥

अथ—अब; **अतः**—इसलिए; **भक्तिं**—भक्तिमय सेवा; **व्याख्यास्यामः**—हम वर्णन करने की चेष्टा करेंगे।

अनुवाद

अब, इसलिए, मैं भक्तिमय सेवा की पद्धति का वर्णन करने की चेष्टा करूँगा।

तात्पर्य

परम पुरुषोत्तम भगवान् की भक्तिमय सेवा का वर्णन *भगवद्गीता* में हुआ है, जहाँ भगवान् कहते हैं कि आत्म-ज्ञानी व्यक्ति *ब्रह्म-भूत* नामक दिव्य स्थिति में, जो आनंदपरिपूर्णता द्वारा लक्षित होती है, नित्य रहता है। आत्म-ज्ञानी होने पर व्यक्ति आनंद-परिपूर्ण हो जाता है। दूसरे शब्दों में, वह आकांक्षा एवं शोक के भौतिक दुख से मुक्त हो जाता है। जब तक हम भौतिक अस्तित्व में होते हैं, हम जीवन की हानियों पर शोक करते रहते हैं तथा अप्राप्त की आकांक्षा करते रहते हैं। आत्म-ज्ञानी व्यक्ति आनंदपरिपूर्ण होता है क्योंकि वह भौतिक आकांक्षा एवं शोक से परे होता है।

आत्म-ज्ञानी व्यक्ति सारे जीवों को समान भाव से देखता है। उसके लिए, ऊँची-नीची योनियों का कोई भेद नहीं होता। यह भी कहा गया है कि विद्वान व्यक्ति एक बुद्धिमान ब्राह्मण तथा एक कुत्ते में भेद नहीं करता क्योंकि वह देह के भीतर आत्मा को देखता है, बाह्य दैहिक बनावट को नहीं देखता। ऐसा सिद्ध, आत्म-ज्ञानी व्यक्ति *भक्ति* को समझने के योग्य बन जाता है।

भक्ति इतनी उत्कृष्ट है कि केवल *भक्ति* के ही माध्यम से हम भगवान् की स्वरूप-स्थिति समझ सकते हैं। यह *भगवद्गीता* (१८.५५) में स्पष्ट रूप से वर्णित है : *भक्त्या मामभिजानाति*। "भगवान् को भक्तिमय सेवा द्वारा ही समझा जा सकता है, अन्य किसी पद्धति से नहीं।" परम सत्य को समझने हेतु विभिन्न पद्धतियाँ हैं, किन्तु यदि कोई व्यक्ति भगवान् को यथावत् समझना चाहता है तो उसे भक्ति-योग की पद्धति ग्रहण करनी होगी। अन्य रहस्यवादी पद्धतियाँ भी हैं, जैसे *कर्म-योग, ज्ञान-योग* तथा *ध्यान-योग*; किन्तु परम पुरुषोत्तम भगवान् को बिना उनकी भक्तिमय सेवा द्वारा समझना संभव नहीं। यह *भगवद्गीता* के चौथे अध्याय (४.३) में सम्पुष्टित किया गया है, जहाँ हमें पता लगता है कि कृष्ण ने अर्जुन को *भगवद्गीता* केवल इसलिए कही क्योंकि वे भगवान् के भक्त एवं सखा थे। *भगवद्गीता* भक्ति-योग की पद्धति सिखाती है, और इसलिए भगवान् कृष्ण ने उसे अर्जुन को वर्णित किया क्योंकि वह महान भक्त था। जहाँ तक आध्यात्मिक जीवन का प्रश्न है, भगवान् का भक्त बनना ही परमोच्च सिद्धि है।

साधारणतया लोग भौतिक प्रकृति की मायावी शक्ति के प्रभाव से पथभ्रष्ट हो जाते हैं। भौतिक प्रकृति में अनगिनत जीव हैं, एवं उनमें से कुछ ही मनुष्य हैं। वैदिक साहित्य के अनुसार, जीवों की चौरासी लाख योनियाँ हैं। *पद्म पुराण* में कहा गया है कि जल में नौ लाख योनियाँ हैं, पेड़-पौधों की बीस लाख योनियाँ, कीड़े-मकोड़ों की ग्यारह लाख योनियाँ, पक्षियों की दस लाख योनियाँ, पशुओं की तीस लाख योनियाँ, तथा मनुष्यों की केवल चार लाख योनियाँ हैं। इस प्रकार मनुष्यों की सबसे कम योनियाँ हैं।

सारे जीवों को दो विभागों में बाँटा जा सकता है : चर एवं अचर जैसे वृक्ष। किन्तु तदुपरान्त भी इनके अनेक विभाग हैं। कुछ योनियाँ हवा में उड़ती हैं, कुछ पानी में रहती हैं, कुछ धरती पर रहती हैं। धरती पर रहने वाले जीवों में, केवल ४ लाख ही मनुष्य योनियाँ हैं, एवं इन चार लाख मनुष्य योनियों में, अनेक असभ्य या अपवित्र हैं; वे यथार्थ सभ्यता के स्तर पर नहीं। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से, *आर्य* मनुष्यों की सबसे सभ्य श्रेणी है, एवं आर्यों में भारतीय विशेष रूप से उच्च संस्कृत हैं। तथा भारतीयों में, ब्राह्मण वैदिक ज्ञान में सबसे दक्ष हैं।

वैदिक संस्कृति विश्वभर में सम्मानित है, और हर स्थान पर ऐसे लोग हैं जो इसे समझने को उत्सुक हैं। वैदिक संस्कृति के सर्वोच्च सिद्ध स्तर को समझने का वर्णन *भगवद्गीता* के पंद्रहवें अध्याय (१५.१५) में हुआ है, जहाँ भगवान् कहते हैं कि सारे *वेदों* का उद्देश्य उन्हें (भगवान् कृष्ण को) समझना है। वे सौभाग्यशाली हैं जो वैदिक सांस्कृतिक जीवन के प्रति आकृष्ट हुए हैं।

हिन्दू स्वयं को *वेदों* का अनुयायी कहते हैं। कुछ कहते हैं कि वे *साम वेद* का अनुसरण करते हैं, और कुछ कहते हैं कि वे *ऋक् वेद* के अनुयायी हैं। विभिन्न लोग *वेदों* के विभिन्न भागों का अनुसरण करने का दावा करते हैं, किन्तु वास्तव में अधिकतर लोग वेदों के अनुयायी नहीं हैं क्योंकि वे वेदों के विधि-विधानों का अनुसरण नहीं करते। इसलिए भगवान् चैतन्य महाप्रभु कहते हैं कि चूँकि *वेदों* के तथाकथित अनुयायी समस्त प्रकार के पाप कर्म करते हैं, इसलिए *वेदों* के वास्तविक अनुयायियों की संख्या बहुत कम है; और इस कम विशिष्ट संख्या में भी अधिकतर लोग *वेदों* के *कर्म-कांड* विभाग में वर्णित पद्धतियों में आसक्त हैं, जिससे व्यक्ति स्वयं को आर्थिक प्रगति के सिद्ध स्तर तक उठा सकता है।

वेदों के *कर्म-कांड* विभाग के पक्के अनुयायी विशिष्ट भौतिक फलों की प्राप्ति हेतु विभिन्न देवताओं की उपासना के लिए विभिन्न यज्ञ करते हैं। ऐसे लाखों उपासकों में कुछ परम सत्य को समझने की पद्धति में वास्तविक रूप से प्रवृत हो सकते हैं। उनको ज्ञानी कहते हैं। ज्ञानियों की सिद्धि *ब्रह्म-भूत* स्तर पा लेने पर या आत्म-ज्ञान में निहित है। आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् ही भक्तिमय सेवा को समझने का स्तर प्रारंभ होता है। उपसंहार यह है कि यथार्थ आत्म-ज्ञानी होने पर ही व्यक्ति भक्ति की पद्धति प्रारंभ कर सकता है। देहात्मबुद्धि में पड़ा व्यक्ति भक्तिमय सेवा की पद्धति को नहीं समझ सकता।

इसी कारण से *नारद-भक्ति-सूत्र* का प्रारंभ होता है, "अब, इसलिए, मैं भक्तिमय सेवा की पद्धति का वर्णन करने की चेष्टा करूँगा"। "इसलिए" शब्द निर्देशित करता है कि भक्तिमय सेवा की यह पद्धति आत्म-ज्ञानी के लिए है, जो पहले से ही मुक्त हो। इसी प्रकार, *वेदांत-सूत्र* भी *अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा* से प्रारंभ होता है। *ब्रह्म-जिज्ञासा* शब्द का अर्थ है परमपूर्ण सत्य के विषय में जिज्ञासा, और यह उनके लिए संस्तुत है जो *वेदों* के *कर्म-कांड* विभाग की निम्न आसक्ति से ऊपर उठकर *ज्ञान-कांड* विभाग में रुचि की स्थिति तक पहुँच चुके हैं। केवल जब व्यक्ति इस ज्ञान में पूर्णतः स्थित हो जाता है कि वह शरीर नहीं, आत्मा है, तभी वह भक्तिमय सेवा की पद्धति का आरंभ कर सकता है।

सूत्र २

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा॥ २॥

सा—वह; **तु**—और; **अस्मिन्**—उनके (भगवान् के) प्रति; **परम**—परम; **प्रेम**—शुद्ध प्रेम; **रूपा**—रूप में।

अनुवाद

भक्तिमय सेवा परमोत्कृष्ट शुद्ध भगवत्प्रेम के रूप में प्रकाशित होती है।

तात्पर्य

जैसा कि पहले कहा गया है, आत्म-ज्ञान के सर्वोच्च स्तर की प्राप्ति के पश्चात ही व्यक्ति भगवान् की भक्तिमय सेवा में स्थित होता है। भक्तिमय सेवा की सिद्धि भगवत्प्रेम की प्राप्ति है। भगवत्प्रेम में परम पुरुषोत्तम भगवान्, भक्त, एवं भक्तिमय सेवा की पद्धति की संलग्नता होती है। आत्म-ज्ञान *अर्थात् ब्रह्म-भूत* स्तर आध्यात्मिक जीवन का प्रारंभ है, पूर्णता नहीं। यदि व्यक्ति यह समझ ले कि वह यह शरीर नहीं है तथा उसका इस भौतिक जगत से कोई लेना-देना नहीं है तो वह भौतिक बद्धता से मुक्त हो जाता है। किन्तु वह ज्ञान पूर्णता का स्तर नहीं है। पूर्णता का स्तर आत्म-ज्ञान की स्थिति में क्रिया से प्रारंभ होता है, और वह क्रिया इस समझ पर आधारित होती है कि जीव भगवान् का नित्य दास है। नहीं तो आत्म-ज्ञान का कोई अर्थ नहीं। यदि व्यक्ति यह मान कर फूला समाने लगता है कि वह परब्रह्म है, अथवा नारायण से एक हो गया है, या *ब्रह्मज्योति* में समा गया है, तो उसने जीवन की पूर्णता नहीं पाई। जैसा कि *श्रीमद्भागवतम्* (१०.२.३२) में कहा गया है,

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥

अर्थात्, जो व्यक्ति मिथ्या अहंकार से फूले समाते है मात्र यह सोचकर कि वे ब्रह्म या आत्मा की अपनी स्वरूप-स्थिति को समझकर मुक्त हो गए हैं, वे यथार्थ में अभी भी दूषित हैं। उनकी बुद्धि अशुद्ध है क्योंकि उन्हें भगवान् के व्यक्तित्व की

कोई समझ नहीं, और अंततः वे अपने मिथ्या पद से गिर जाते हैं।

भागवतम् (१.२.११) के अनुसार अध्यात्मवादियों के तीन स्तर हैं : परम सत्य के निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप के आत्म-ज्ञानी जानकार; योग पद्धति से उपलब्ध परम सत्य के स्थानगत स्वरूप, परमात्मा, के जानकार; एवं *भक्त,* जो परम पुरुषोत्तम भगवान् को जानते हों तथा उनकी भक्तिमय सेवा में संलग्न हों। जो केवल यही समझें कि जीव भौतिक पदार्थ नहीं अपितु चेतन आत्मा है तथा जो परमात्मा में समा जाना चाहें, वे निकृष्टतम आध्यात्मिक स्थिति में हैं। उनसे ऊपर योगीजन हैं, जो ध्यान के माध्यम से अपने हृदय में परमात्मा के चतुर्भुज विष्णु रूप को देखते हैं। किन्तु भगवान् कृष्ण से यथार्थ संबंध रखने वाले व्यक्ति अध्यात्मवादियों में श्रेष्ठ हैं। *भगवद्गीता* के छठे अध्याय (६.४७) में भगवान् ने यह सुनिश्चित किया है :

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

"एवं समस्त योगियों में से जो अत्यंत श्रद्धापूर्वक मेरे परायण है, अपने में सदा मेरा स्मरण करता है, तथा मेरी दिव्य प्रेममयी सेवा करता है—वह *योग* में मुझसे घनिष्टतम रूप से युक्त है तथा सबमें सर्वोच्च है। ऐसा मेरा मत है।" यह परमोच्च सिद्ध स्तर है, जिसे भगवत्प्रेम कहते हैं।

भक्तिरसामृतसिन्धु (१.४.१५-१६) में श्रील रूप गोस्वामी, भक्तिमार्ग के महाप्रणेता, भगवत्प्रेम तक पहुँचने के विभिन्न स्तरों का वर्णन करते हैं :

आदौ श्रद्धा ततः साधुसंगोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावास्ततः प्रेमाभ्युदंचति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥

प्रथम आवश्यकता यह है कि, भगवान् की भक्तिमय सेवा ही भगवत्प्रेम प्राप्ति की एकमात्र पद्धति है—इसमें पर्याप्त विश्वास होना। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण ने सर्वत्र यही शिक्षा दी है कि व्यक्ति को आत्म-ज्ञान की अन्यान्य पद्धतियों को छोड़ देना चाहिए एवं उनमें पूर्ण समर्पण कर देना चाहिए। यही विश्वास है। जिसे कृष्ण पर पूर्ण विश्वास या श्रद्धा है तथा उनके प्रति शरणागत है तो वह प्रेम के स्तर तक उठने के योग्य है। प्रेम को भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने मानव जीवन की सिद्धि की परम अवस्था बताया है।

कुछ व्यक्ति भौतिकता से प्रेरित धर्म के प्रति आसक्त होते हैं, जबकि अन्य लोग अर्थ, काम अथवा मोक्ष में आसक्त होते हैं। किंतु भगवत्प्रेम इन सबसे ऊपर है। प्रेम का यह सर्वोच्च स्तर भौतिक धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष से भी ऊपर है।

अतः भगवत्प्रेम इसी दृढ़ श्रद्धा से प्रारंभ होता है कि पूर्ण भक्तिमय सेवा में प्रवृत्त मनुष्य इन सभी पुरुषार्थों की पूर्णता प्राप्त किए रहता है।

भगवत्प्रेम तक पहुँचने की पद्धति में अगला स्तर *साधु-संग,* अर्थात भगवत्प्रेम के श्रेष्ठतम स्तर में पहले से ही पहुँचे व्यक्तियों का संग, है। ऐसे संग से बचने वाला एवं केवल मनोधर्मी चिंतन या तथाकथित ध्यान में रत रहनेवाला पूर्णता के स्तर तक नहीं पहुँच सकता। किन्तु शुद्ध भक्तों अथवा उच्च भक्तिमूलक समाज का संग करने वाला अगले स्तर को प्राप्त होता है—*भजनक्रिया,* अर्थात भगवान् की आराधना करने के विधानों की स्वीकृति। जो भगवान् के शुद्ध भक्त का संग करता है, वह स्वभावतः ही उस व्यक्ति को अपने गुरु के रूप में वरण करता है, और जब नया भक्त एक शुद्ध भक्त को अपना गुरु स्वीकारता है तो गुरु का कर्तव्य नये भक्त को *वैधी-भक्ति* के सिद्धांतों में प्रशिक्षित करना होता है। इस स्तर पर भक्त की सेवा भगवद्सेवा में उसकी सामर्थ्य आधारित होती है। निपुण गुरु अपने अनुयायियों को ऐसे कार्य में लगाता है जिससे उनकी चेतना क्रमशः भगवद्सेवा में उन्नत हो। अतः भगवत्प्रेम को समझने का प्राथमिक स्तर यथार्थ शुद्ध भक्त के पास जाना, उसको अपना गुरु स्वीकार करना एवं उसके मार्गदर्शन में वैधी-भक्ति का अनुशीलन करना है।

अगले स्तर को *अनर्थ-निवृत्ति* कहते हैं, जिसमें भौतिक जीवन के समस्त संदेह तिरोहित हो जाते हैं। गुरु के निर्देशन में भक्तिमय सेवा के प्राथमिक सिद्धांतों का नित्य अनुशीलन करते हुए व्यक्ति क्रमशः इस स्तर तक पहुँचता है। भौतिक दूषण के संसर्ग से हम कई बुरी प्रवृत्तियों में पड़ जाते हैं, जिनमें से मुख्य हैं अवैध यौन संबंध, पशु-मांस भक्षण, मद्य-सेवन तथा द्यूत-क्रिया। अपने शिष्य को वैधी-भक्ति में संलग्न करते समय एक निपुण गुरु जिस कार्य को प्रथमतः करता है, वह है—उसे इन चार पापाचारों से बचने का निर्देश देना।

चूँकि भगवान् पूर्णतः शुद्ध हैं, इसलिए शुद्ध हुए बिना कोई भी भगवत्प्रेम के उच्चतम सिद्ध स्तर तक नहीं पहुँच सकता। *भगवद्गीता* (१०.१२) में, जब अर्जुन ने कृष्ण को भगवान् के रूप में स्वीकार किया, तो उसने कहा, *पवित्रं परमं भवान्* : "आप शुद्धों में परमपवित्र हैं।" भगवान् परमपवित्र हैं, इसलिए भगवान् की सेवा चाहने वाला व्यक्ति भी शुद्ध होना चाहिए। जब तक व्यक्ति शुद्ध नहीं है, वह न तो भगवान् के व्यक्तित्व को समझ सकता है और न ही उनकी प्रेम से सेवा करने में प्रवृत्त हो सकता है, क्योंकि भक्तिमय सेवा, जैसा कि पहले बताया गया है, आत्म-ज्ञान के उस बिन्दु से प्रारंभ होती है, जहाँ भौतिकतावादी जीवन के समस्त संदेह तिरोहित हो जाते हैं।

विधि विधानों के पालन एवं भौतिक इंद्रियों के शुद्धिकरण के पश्चात् व्यक्ति निष्ठा, या भगवान् में दृढ़तम विश्वास, के स्तर को प्राप्त करता है। जब व्यक्ति इस स्तर को प्राप्त कर लेता है, तो उसे कोई भी परम पुरुषोत्तम भगवान् की धारणा से हटा नहीं सकता। कोई उसे ऐसा कहकर बहला नहीं सकता कि भगवान् निर्विशेष है, रूप से विहीन है, अथवा किसी भी कल्पनाजनित रूप को भगवान् स्वीकारा जा सकता है। इन न्यूनाधिक बकवासपूर्ण धारणाओं का निरूपण करने वाले लोग उसे परम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण में दृढ़ श्रद्धा से डिगा नहीं सकते।

भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने कई श्लोकों में इस पर बल दिया है कि वे ही परम पुरुषोत्तम भगवान् हैं। किन्तु भगवान् कृष्ण के इस तथ्य पर बल देने पर भी कई तथाकथित पंडित एवं टीकाकार अभी भी भगवान् की व्यक्तिगत धारणा का खंडन करते हैं। एक प्रसिद्ध विद्वान् ने *भगवद्गीता* पर अपनी टीका में लिखा था कि किसी को भी भगवान् कृष्ण के प्रति समर्पण करने की आवश्यकता नहीं, या उन्हें परम पुरुषोत्तम भगवान् मानने की भी आवश्यकता नहीं किन्तु हमें "कृष्ण के भीतर के परम तत्त्व" को समर्पण करना चाहिए। ऐसे मूर्ख नहीं जानते कि भीतर क्या और बाहर क्या है। वे *भगवद्गीता* पर अपनी ही सनक के अनुसार भाष्य लिखते हैं। ऐसे व्यक्ति भगवत्प्रेम के उच्चतम स्तर तक नहीं उठ सकते। वे विद्वान् हो सकते हैं, और ज्ञान के अन्य विभागों में प्रवीण हो सकते हैं, किन्तु वे भगवत्प्रेम के उच्चतम स्तर की प्राप्ति की पद्धति में नौसिखिए भी नहीं हैं। *निष्ठा* का अर्थ है कि व्यक्ति को *भगवद्गीता* के शब्दों को, जो परम पुरुषोत्तम भगवान् के शब्द हैं, यथावत् स्वीकार करना चाहिए, बिना किसी विचलन या बकवास टीका के।

यदि भौतिक अस्तित्व द्वारा उत्पन्न समस्त संदेहों को तिरोहित करने तथा *निष्ठा* के स्तर तक उठने में मनुष्य सौभाग्यवान् हो, तो वह तदुपरांत *रुचि* एवं *आसक्ति* के स्तरों तक उठ सकता है। आसक्ति भगवत्प्रेम का प्रारंभ है। इसमें प्रगति करके, व्यक्ति तब भगवान् से आदान-प्रदान के आनंदास्वादन के स्तर (*भाव*) तक पहुँच जाता है। प्रत्येक जीव भगवान् से नित्य संबंध रखता है, और यह संबंध विभिन्न दिव्य रसों में से किसी एक रस में हो सकता है। *आसक्ति* के स्तर पर व्यक्ति भगवान् से अपना संबंध समझ सकता है। अपनी स्थिति को समझ कर वह भगवान् से आदान-प्रदान करना प्रारंभ करता है। भगवान् के साथ सतत आदान-प्रदान से, भक्त *भगवत्प्रेम* के परमोत्कृष्ट स्तर पर पहुँच जाता है।

सूत्र ३

अमृतस्वरूपा च ॥ ३ ॥

अमृत—अमरत्व; **स्वरूपा**—अपने सार रूप में; **च**—और

अनुवाद

यह शुद्ध भगवत्प्रेम नित्य है।

तात्पर्य

जब कोई व्यक्ति भगवत्प्रेम का सिद्ध स्तर प्राप्त कर लेता है, तो वह अपनी वर्तमान देह में ही मुक्त हो जाता है तथा अपने अमरत्व की वैधानिक-स्थिति का अनुभव करता है। *भगवद्गीता* (४.९) में भगवान् कहते हैं,

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

यहाँ भगवान् कहते हैं कि कोई भी व्यक्ति जो उनकी दिव्य क्रियाओं एवं इस भौतिक जगत में उनके प्राकट्य तथा तिरोधान को समझ जाता है, तो वह मुक्त हो जाता है तथा अपनी वर्तमान देह को त्यागने पर तुरंत उनके धाम में पहुँच जाता है। अतः यही समझना होगा कि भगवत्प्रेम के स्तर को प्राप्त करने वाले को पूर्ण ज्ञान है, तथा पूर्ण ज्ञान में कमी रह जाने पर भी उसके पास प्राणी द्वारा प्राप्य जीवन की प्राथमिक पूर्णता रहती है।

स्वयं को परम तत्त्व से एक मानना आत्म-ज्ञान की सबसे बड़ी मिथ्या धारणा है, और यह मिथ्या धारणा व्यक्ति को भगवत्प्रेम के सर्वोच्च स्तर तक पहुँचने से रोकती है। किन्तु अपनी निम्न स्थिति को समझने वाला व्यक्ति भगवान् की प्रेममयी सेवा के सर्वोच्च स्तर तक पहुँच सकता है। यद्यपि भगवान् एवं जीव गुण में समान हैं, तथापि जीव सीमित हैं जबकि भगवान् असीमित हैं। यह समझ, जिसे *अमृत-स्वरूप* कहते हैं, व्यक्ति को नित्य स्थिति प्राप्त कर लेने के योग्य बनाती है।

श्रीमद्भागवतम् (१०.८७.३०) में मूर्तिमान वेद भगवान् से प्रार्थना करते हैं, "हे परम नित्य प्रभु, यदि जीवात्माएँ आपके समतुल्य होतीं तथा फलस्वरूप आपके समान सर्व-व्यापक और सर्व-शक्तिमान होतीं, तो आपकी बहिरंगा शक्ति, *माया* द्वारा

उनके नियंत्रित होने की कोई संभावना न होती।" अतः, जीवात्माओं को परम तत्त्व के अंश रूप में स्वीकार करना चाहिए। यह *भगवद्गीता* (१५.७) में सुनिश्चित किया गया है जब भगवान् कहते हैं; *ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः* "समस्त जीव सनातन रूप से मेरे अंश हैं।" अंश होने के नाते वे गुण में भगवान् के समान हैं, किन्तु वे असीमित नहीं हैं।

भगवान् का नित्य दास होने के विषय में जो आश्वस्त है, वह *अमृत* कहलाता है क्योंकि उसने अमरत्व की अपनी वैधानिक स्थिति का अनुभव कर लिया है। स्वयं की स्थिति को जीवात्मा एवं भगवान् का नित्य दास समझे बिना अमरत्व का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु जो इन तथ्यों को स्वीकारता है वह अमर हो जाता है। अन्य शब्दों में, जो व्यक्ति यह मिथ्या धारणा रखे हुए हैं कि जीव एवं भगवान् हर प्रकार से समान हैं, गुण एवं मात्रा दोनों में, वे भ्रांत हैं, तथा उन्हें अभी भी भौतिक जगत में ही बद्ध रहना होगा। वे अमरत्व की स्थिति तक नहीं उठ सकते।

भगवत्प्रेम की प्राप्ति पर, व्यक्ति तुरंत *अमृत* हो जाता है तथा उसे पुनः अपना भौतिक देह-परिवर्तन नहीं करना होता। किन्तु यदि भगवान् का भक्त अभी तक भी भगवत्प्रेम के सिद्ध स्तर तक न पहुँचा हो, तो भी उसकी भक्तिमय सेवा *अमृत* ही कहलाती है। *कर्म* या *ज्ञान* के स्तर पर हुई कोई भी क्रिया देह-परिवर्तन के साथ ही समाप्त हो जायेगी, परन्तु भक्तिमय सेवा, यदि वह पूर्णता से संपन्न न भी हुई हो तो भी, अगले जीवन में चलेगी, तथा जीव को आगे और प्रगति करने की अनुमति दी जायेगी।

भगवद्-अंश रूप में जीव की वैधानिक स्थिति को *श्रीमद्भागवतम्* और *उपनिषदों* में सुनिश्चित किया गया है। *श्वेताश्वतर उपनिषद्* (५.९) में वर्णित है,

बालाग्र-शत-भागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।।

"यदि बाल के अग्रभाग को सौ भागों में विभाजित किया जाए, एवं यदि उनमें से एक भाग को पुनः सौ भागों में विभाजित किया जाए, तो उस अग्रभाग का वह दस हज़ारवाँ हिस्सा जीव का परिमाण होगा।" पूर्व कथनानुसार जीवात्मा की भगवदीय अंश की यह स्थिति *भगवद्गीता* (१५.७) में नित्य बताई गई है; उसे परिवर्तित नहीं किया जा सकता। अपनी वैधानिक स्थिति को भगवद्-अंश समझने वाला तथा स्वयं को पूर्ण गम्भीरता से भक्तिमय सेवा में नियोजित करने वाला तुरंत *अमृत* हो जाता है।

सूत्र ४

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवत्यमृतो भवति तृप्तो भवति॥ ४॥

यत्—जिसे; **लब्ध्वा**—पाकर; **पुमान्**—व्यक्ति; **सिद्धः**—सिद्ध; **भवति**—बन जाता है; **अमृतः**—अमर; **भवति**—बन जाता है; **तृप्तः**—शांत; **भवति**—बन जाता है।

अनुवाद

शुद्ध भगवत्प्रेम में दिव्य भक्तिमय सेवा के स्तर को पाकर व्यक्ति सिद्ध, अमृत एवं शांत हो जाता है।

तात्पर्य

अंशरूप जीवात्माएँ भौतिक अस्तित्व के बद्ध जीवन में फँसी हुई हैं। अपनी बहुमुखी क्रियाओं के कारण वे ब्रह्माण्ड भर में विचरण कर रही हैं; एक शरीर से दूसरे शरीर में पुनर्जन्म लेकर वे विभिन्न दुख भोग रही हैं। किन्तु जब कोई भाग्यवान जीव किसी प्रकार भगवान् के शुद्ध भक्त के संपर्क में आता है तथा भक्तिमय सेवा में नियुक्त होता है, तो वह सिद्धि-पथ पर अग्रसर हो जाता है। यदि कोई पूर्ण गम्भीरता से भक्तिमय सेवा में नियुक्त होता है, तो भगवान् दो प्रकार से उसे निर्देश देते हैं—शुद्ध भक्त द्वारा एवं अंतर्मन से—जिससे वह भक्तिमय सेवा में प्रगति कर सके। ऐसी भक्तिमय सेवा के अनुशीलन से वह सिद्ध हो जाता है।

भगवद्गीता (८.१५) में भगवान् कृष्ण इस पूर्ण सिद्धि के स्वरूप का वर्णन करते हैं :

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

"मेरी भक्तिमय सेवा में नियुक्त महात्मागण मुझ भगवान् को प्राप्त करते हैं, तथा इस क्लेशपूर्ण भौतिक जीवन में फिर नहीं लौटते, क्योंकि उन्होंने परम सिद्धि प्राप्त कर ली होती है।" इस भौतिक शरीर में तथा उसको छोड़ने के पश्चात् भी, भक्त भगवान् की सेवा में उच्चतम सिद्धि प्राप्त करता है। जब तक भक्त अपने भौतिक शरीर में होता है, तब तक उसकी परिवीक्षिक क्रियाएँ उसे भगवान् के परम धाम में स्थानांतरित होने को तैयार करती हैं। केवल वही व्यक्ति जो सौ प्रतिशत भक्तिमय सेवा में नियुक्त हों, यह सिद्धि लाभ कर सकते हैं।

भौतिक बद्ध जीवन में व्यक्ति विभिन्न शरीरों में आत्मा के भ्रमण से उत्पन्न

सभी प्रकार के क्लेशों का सदा अनुभव करता है। जन्म से पूर्व, वह अपनी माँ के गर्भावास की यातना झेलता है, और जब वह बाहर आता है तो थोड़े अन्तराल तक जीवित रहने के बाद उसे फिर मरकर एक नई माँ के गर्भ में आना पड़ता है। किन्तु परम सिद्धि को प्राप्त करने वाला व्यक्ति अपने वर्तमान शरीर को छोड़कर भगवद्धाम लौट जाता है। वहाँ पहुँचकर उसे इस भौतिक जगत में फिर आकर विभिन्न शरीरों में भ्रमण नहीं करना पड़ता। आध्यात्मिक जगत में वह स्थानांतरण जीवन की परम सिद्धि है। अन्य शब्दों में, भक्त अमरत्व की अपनी वैधानिक स्थिति प्राप्त करता है एवं इस प्रकार पूर्ण शांतिमय हो जाता है।

इस सिद्धि की प्राप्ति के बिना वह शांतिमय नहीं हो सकता। वह कृत्रिम रूप से यह सोच सकता है कि वह परम तत्त्व से एक है, किन्तु वास्तव में वह एक नहीं होता; अतः उसे शांति नहीं मिलती। इसी प्रकार, कोई व्यक्ति योग-पद्धति की आठ यौगिक सिद्धियों में से किसी एक की इच्छा कर सकता है, जैसे सबसे छोटा हो जाना, सबसे भारी हो जाना, अथवा किसी भी इच्छित वस्तु को प्राप्त कर लेना, परन्तु यह प्राप्तियाँ भौतिक हैं; वह सिद्धि नहीं है। सिद्धि का अर्थ है अपना आदि आध्यात्मिक स्वरूप पुनः पाकर भगवान् की प्रेममयी सेवा में नियुक्त होना। जीवात्मा भगवान् का अविच्छिन्न अंश है, और यदि वह अविच्छिन्न अंश का कर्तव्य निभाता है, गर्व से ऐसा न सोचकर कि वह भगवान् के सर्वथा समान है, तो वह यथार्थ सिद्धि प्राप्त करता है तथा शांत हो जाता है।

सूत्र ५

यत् प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न
द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति॥ ५॥

यत्—जिसे; **प्राप्य**—प्राप्त करके; **न किञ्चित्**—कुछ नहीं; **वाञ्छति**—चाहता है; **न शोचति**—शोक नहीं करता; **न द्वेष्टि**—न द्वेष करता है; **न रमते**—न हर्ष करता है; **न**—न; **उत्साही**—भौतिक रूप से उत्साही; **भवति**—होता है।

अनुवाद

ऐसी शुद्ध भक्तिमय सेवा में नियुक्त व्यक्ति न तो इंद्रियतृप्ति हेतु कोई इच्छा करता है, न किसी हानि का शोक करता है, न किसी से

द्वेष करता है, न अपने लिए कोई हर्ष मनाता है, और न ही भौतिक क्रिया में अति उत्साही होता है।

तात्पर्य

श्रील रूप गोस्वामी के अनुसार, भक्तिमय सेवा के सम्पादन में छः प्रतिकूलताएँ हैं, एवं भक्तिमय सेवा की प्रगति में छः अनुकूलताएँ भी हैं।

प्रथम प्रतिकूलता है *अत्याहार;* अर्थात अधिक खाना या आवश्यकता से अधिक धन का संग्रह करना। जब हम परम श्रेणी का सुख पाने के यत्न में इंद्रियों को बेलगाम छोड़ देते हैं, तो हमारा पतन होता है। अतः भक्त को केवल अपने शरीर एवं आत्मा को संयुक्त रखने हेतु आवश्यक मात्रा में भोजन करना चाहिए; उसे अपनी जिह्वा को उसकी इच्छानुसार जो कुछ या सभी कुछ खाते रहने को नहीं छोड़ना चाहिए। *भगवद्गीता* एवं महान् आचार्यों तथा गुरुओं ने मनुष्यों हेतु विशिष्ट खाद्यों को निर्धारित किया है, और इन खाद्यों को खानेवाला व्यक्ति सतोगुण में आहार करता है। इन खाद्यों में अन्न, फल, शाक, दूध-उत्पादन व शक्कर आते हैं और कुछ नहीं। भक्त मनमाना आहार नहीं करता; वह तो बस वही खाता है जिसका वह भगवान् कृष्ण को भोग लगाता हो। उसकी रुचि *कृष्ण-प्रसादम्* (भगवान् को अर्पित खाद्य) में होती है, अपनी जिह्वा की संतुष्टि में नहीं। अतः वह किसी विलक्षण आहार की इच्छा नहीं करता।

इसी प्रकार, भक्त अत्यधिक धन के संग्रह की भी इच्छा नहीं करता : वह मात्र आवश्यकतानुसार ही कमाता है। यह *यावदर्थ* या *युक्ताहार* कहलाता है। भौतिक जगत में हर कोई अधिक से अधिक धन कमाने में तथा खाने और सोने को बढ़ाने एवं इंद्रियों के तर्पण में तत्पर है; यही अधिकतर लोगों के जीवन का लक्ष्य है। किन्तु भक्त का जीवन इन क्रियाओं से रहित होना चाहिए।

श्रील रूप गोस्वामी द्वारा वर्णित दूसरी प्रतिकूलता है *प्रयास,* अर्थात भौतिक वस्तुओं हेतु कठिन यत्न। किसी भौतिक लक्ष्य की प्राप्ति हेतु भक्त को अधिक उत्साही नहीं होना चाहिए। उसे भौतिक लाभों की प्राप्ति के लिए दिनरात कार्यरत कर्म-कांडी लोगों जैसा नहीं होना चाहिए। ऐसे सभी व्यक्तियों की कोई कामना होती हैं—बड़ा व्यवसायी बनने की, बड़ा उद्योगपति बनने की, बड़ा कवि या दार्शनिक बनने की। किन्तु वे नहीं जानते कि यदि उनकी कामना पूर्ण हो भी गई, तो फल अस्थायी ही होगा। शरीर के समाप्त होते ही सारी भौतिक उपलब्धियाँ भी नष्ट हो जाती हैं। इस जगत में भौतिकता से प्राप्त कुछ भी कोई अपने साथ नहीं ले जाता। जो एकमात्र वस्तु वह अपने साथ ले जा सकता है, वह भक्तिमय सेवा की निधि

है; केवल वही कभी क्षीण नहीं होती।

भक्तिमय सेवा में अगली प्रतिकूलता है *प्रजल्प*, अर्थात भौतिक विषयवस्तु संबंधी वार्ता। कई लोग व्यर्थ ही समाचार-पत्र की दैनिक घटनाओं की बातचीत करके बिना किसी लाभ के समय बिता देते हैं। किन्तु, भक्त राजनीति अथवा अर्थ-नीति की अनावश्यक चर्चाओं में भाग नहीं लेता। न ही भक्त *वेदों* में वर्णित बाह्य विधि विधानों के पालन में अधिक दृढ़ होता है। इन अनुष्ठानों के प्रति लगाव रखना अगली प्रतिकूलता है, जिसे *नियमाग्रह* कहते हैं। चूँकि भक्त भगवान् की परम सेवा में पूर्णतः संलग्न रहता है, वह स्वतः ही अन्य सारे कर्तव्यों को पूरा करता है एवं उसे वैदिक अनुष्ठानों के समस्त विवरणों का प्रतिपादन नहीं करना होता। जैसा *श्रीमद्भागवतम्* (११.५.४१) कहती है,

देवर्षि-भूताप्त-नृणां पितृणां
न किंकरो नायं ऋणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

"इस संसार में जन्मा प्रत्येक मनुष्य देवताओं, महर्षियों, साधारण जीवों, परिवार, समाज इत्यादि के प्रति तुरंत ऋणी हो जाता है। किन्तु भगवान् के चरणकमलों में शरणागत एवं उनकी सेवा में पूर्णतः नियुक्त व्यक्ति किसी के प्रति ऋणी नहीं रहता। अन्य शब्दों में, फिर उसे भक्तिमय सेवा के सिवाय कोई औपचारिकता पूरी नहीं करनी होती।"

सर्वोपरांत, भक्त को लोभी नहीं होना चाहिए, (*लौल्यम्*), और न ही उसे साधारण भौतिकतावादी मनुष्यों से मिलना-जुलना चाहिए (*जन-संग*)।

ये छः निषेध, भक्तों हेतु हैं; अतः भगवत्प्रेम के सिद्ध स्तर की प्राप्ति का इच्छुक इन छः वस्तुओं से दूर रहता है।

इसी प्रकार, भक्तिमय सेवा में प्रगति हेतु छः अनुकूलताएँ हैं। सर्वप्रथम, जहाँ व्यक्ति को भौतिक उपलब्धियों की प्राप्ति हेतु उद्यमी नहीं होना चाहिए, वहाँ उसे भक्तिमय सेवा का सिद्ध स्तर प्राप्त करने हेतु बहुत उद्यमी होना चाहिए। यह *उत्साह* कहलाता है। जीव कार्य करना बंद नहीं कर सकता। अतः जब उसे भौतिक उपलब्धियों हेतु उत्साही होने को रोका जाए तो उसे आध्यात्मिक उपलब्धियों हेतु उत्साही होने को प्रोत्साहित भी करना चाहिए। उत्साह जीव का लक्षण है; उसे बंद नहीं किया जा सकता। यह एक शक्तिशाली इंजन के समान है: यदि उसका ठीक प्रयोग हो, तो वह अत्यधिक उत्पादन करेगा। अतः उत्साह को शुद्ध करना चाहिए। उत्साह को भौतिक लक्ष्यों की प्राप्ति में नियोजित करने के स्थान पर व्यक्ति को

भक्तिमय सेवा के सिद्ध स्तर की प्राप्ति हेतु उत्साही होना चाहिए। वास्तव में, अपने भक्तों को भक्तिमय सेवा में प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से ही कृष्ण इस भौतिक जगत में अवतार लेते हैं।

भक्तिमय सेवा का अगला अनुकूल तत्त्व है *निश्चय*। जब व्यक्ति निजी भगवद्सेवा में निराश हो जाता है, तो उस निराशा को भी त्याग देना चाहिए और उसके स्थान पर भगवत्प्रेम के परम लक्ष्य की प्राप्ति का निश्चय ले आना चाहिए। भक्त को धैर्यपूर्वक भक्तिमय सेवा के विधि-विधानों का पालन करना चाहिए जिससे वह दिन आए जब उसे अकस्मात् भक्तिमय सेवा की सर्वसिद्धि प्राप्त हो जाए। उसे आध्यात्मिक जीवन में अपनी प्रगति में किसी हानि या पतन का शोक नहीं करना चाहिए। यह *धैर्य* भक्तिमय सेवा की प्रगति में तीसरा सकारात्मक तत्त्व है।

तदुपरांत, शुद्ध भक्त भक्तिमय सेवा के सम्पादन में द्वेषी, ईर्ष्यालु या आलसी नहीं होता। अपनी प्रगति के प्रति निश्चित, वह सदा अपने निर्धारित भक्तिमय कर्तव्य करता रहता है। इसे *तत्-तत्-कर्म-प्रवर्तन* कहते हैं।

अंतिम दो तत्त्व हैं *संग-त्याग* अर्थात अभक्तों के संग का त्याग, तथा *सतो-वृत्ति* अर्थात पूर्वाचार्यों के पदचिह्नों का अनुसरण। इन अभ्यासों से भक्त को भक्तिमय सेवा के पथ पर स्थित रहने तथा अस्थायी, भौतिक वस्तुओं के भोग से दूर रहने में मदद मिलती है। अतः भक्त की क्रियाऐं भौतिक जगत के किसी भी दूषण से रहित सदा शुद्ध रहती हैं।

सूत्र ६

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवत्यात्मारामो भवति॥ ६॥

यत्—जिसे; **ज्ञात्वा**—जानकार; **मत्तः**—मत्त; **भवति**—बन जाता है; **स्तब्धः**—(आनंद से) स्तब्ध; **भवति**—हो जाता है; **आत्मारामः**—स्व-संतुष्ट (भगवद्सेवा में नियुक्ति के कारण); **भवति**—बन जाता है।

अनुवाद

भगवत्प्रेम में भक्तिमय सेवा की पद्धति को पूर्णतः जाननेवाला उसके प्रतिपादन में उन्मत्त हो जाता है। कभी कभी वह भावानन्द में स्तब्ध हो जाता है एवं इस प्रकार परमात्मा की सेवा में संलग्न हुआ

वह अपनी आत्मा में रमण करता है।

तात्पर्य

श्रीमद्भागवतम् (१.७.१०) कहती है,

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अपि उरुक्रमे।
कुर्वन्ति अहैतुकीं भक्तिं इत्थं-भूत-गुणो हरिः॥

"यद्यपि जो आत्माराम, स्व-संतुष्ट हैं, वे समस्त भौतिक दूषण से मुक्त हैं, तथापि वे भगवान् की लीलाओं से आकर्षित होते हैं, तथा इस प्रकार वे उनकी दिव्य सेवा में स्वयं को नियोजित करते हैं।" जब भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने इस *आत्माराम* श्लोक की व्याख्या श्रील सनातन गोस्वामी से की, तो उन्होंने इसके इकसठ अर्थ बताए थे, तथा वे सभी भगवान् की भक्तिमय सेवा की ओर निर्देश करते हैं।

भक्तिमय सेवा में कोई कैसे उन्मत्त होता है, इसका बड़ा सुंदर वर्णन *श्रीमद्भागवतम्* (११.२.४०) में है :

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः
हसत्यथो रोदिति रौति गायति
उन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥

"पूर्ण कृष्णभावनामृत में भगवद्भक्तिमय सेवा में संलग्न व्यक्ति कृष्ण का पुण्य नाम सुनकर व जपकर स्वतः ही आनंदविभोर हो जाता है। पवित्र नाम-संकीर्तन से द्रवितचित्त हुआ वह उन्मत्त मनुष्य के समान हो जाता है, तथा बाह्य सामाजिक रीतियों की चिंता नहीं करता। अतः वह कभी हंसता है, कभी रोता है, कभी जोर से चिल्लाता है, कभी गाता है, और कभी नृत्य करके स्वयं को भूल जाता है।" ये भक्तिमय सेवा में उन्मत्तता के लक्षण हैं। यह स्तर, जिसे *आत्माराम* स्तर कहते हैं तभी संभव है जब भगवान् अपने भक्त की उन्नत भक्तिमय क्रिया के लिए उसपर अपनी कृपा करते हैं। यह सर्वोच्च सिद्ध स्तर है क्योंकि शुद्ध भगवत्प्रेम की प्राप्ति के बिना इस तक नहीं पहुँचा जा सकता।

न औपचारिक धार्मिक अनुष्ठान, आर्थिक उन्नति, इंद्रियतृप्ति, और न ही मोक्ष की इस भगवत्प्रेम, कृष्ण-प्रेम, के मधुर स्तर से तुलना कर सकते हैं। *चैतन्य-चरितामृत* (*आदि लीला*, ७.९७) इस पूर्णानंद तथा उन्मत्तता के स्तर के वर्णन में इसे ब्रह्म-ज्ञान के आनंद से भी कहीं अधिक बढ़कर बताता है। भगवान् चैतन्य महाप्रभु कहते हैं कि *भक्ति* (भगवत्प्रेम) का आनंद इतना व्यापक है कि वह ब्रह्मैक्य

ज्ञान के अणु-आनंद की तुलना में एक महासागर के समान है। सभी वैदिक शास्त्रों में, भक्तिमय सेवा में उन्मत्तता के स्तर को सर्वोच्च सिद्ध स्तर कहा गया है। यह साधारण व्यक्तियों, अभक्तों, द्वारा प्राप्य नहीं है।

सिद्धि की अवस्था में, व्यक्ति का हृदय द्रवीभूत हो जाता है तथा वह भगवान् के चरणारविंदों की प्राप्ति में अधिक से अधिक आसक्त हो जाता है। भक्तिमय सेवा के मार्ग के महान आचार्य, श्रील रूप गोस्वामी ने इस अवस्था की व्याख्या इस प्रकार की है : "यद्यपि पागल के ही समान दिखता है, तथापि भक्तिमय सेवा में आनंदविभोर व्यक्ति इस शब्द के भौतिक अर्थ में पागल नहीं होता; यह उन्मत्तता का आनंद भगवान् की आह्लादिनी शक्ति का प्रकाश होता है।" भगवान् की विभिन्न शक्तियाँ हैं, जिनमें से एक है *आह्लादिनी-शक्ति,* उनकी अंतरंगा आनंद-शक्ति। इस शक्ति से कुछ परिचयप्राप्त व्यक्ति ही ऐसी उन्मत्तता का आस्वादन कर सकता है। *वेदांत सूत्र* (१.१.१२) कहता है, *आनंद-मयोऽभ्यासात्* "भगवान् स्वभाव से सदा आनंदमय हैं।" भगवान् की यह आनंदमयता उनकी आह्लादिनी शक्ति के कारण है।

भगवान् की आह्लादिनी शक्ति से प्रभावित व्यक्ति आनंद-उन्मत्तता के विभिन्न लक्षणों का प्रकाश करता है, जैसे हृदय का द्रवित होना, हँसना, रोना, काँपना एवं नृत्य करना। ये लक्षण भौतिक नहीं होते। फिर भी, जनता द्वारा मान्यता प्राप्त करने हेतु ऐसे आनंदोन्माद के लक्षणों का प्रदर्शन करना शुद्ध भक्तों द्वारा अनुमत नहीं है। श्रील भक्तिसिद्धांत सरस्वती प्रभुपाद कहते हैं, "प्रेममयी सेवा की सर्वोच्च सिद्धावस्था की प्राप्ति से रहित आध्यात्म-ज्ञान विहीन व्यक्तियों के कृत्रिम रूप से हँसने, रोने या नाचने से उन्हें किसी मंगल की प्राप्ति नहीं हो सकती। देह का बनावटी हाव-भाव... सदा त्याज्य है। व्यक्ति को भक्तिमय सेवा की परिधि में स्वाभाविक क्रम के लिए प्रतीक्षा करनी चाहिए, एवं उस समय, जब कोई रोए, नाचे या गाए, तो वह मान्य है। आह्लादिनी शक्ति के लक्षणों का कृत्रिम प्रदर्शनकारी व्यक्ति साधारण जीवनयापन में कई उत्पात मचा देता है।"

प्रामाणिक गुरु के मार्गदर्शन में भक्तिमय सेवा की सिद्धावस्था को प्राप्त व्यक्ति भक्ति के विज्ञान का प्रचार कर सकता है, जैसा चैतन्य महाप्रभु ने किया। जब भगवान् चैतन्य महाप्रभु प्रचार करते थे, तो वे नृत्य करते थे तथा आनंदोन्माद के अन्य लक्षण भी प्रदर्शित करते थे। एक बार, बनारस में, प्रकाशानंद सरस्वती नामक मायावादी संन्यासी ने इन क्रियाओं का विरोध किया। उन्होंने कहा कि चूँकि महाप्रभु ने संन्यास लिया था, अतः उन्हें ऐसे उन्मत्त ढंग के कार्य नहीं करने चाहिए।

महाप्रभु ने बताया कि उन्मत्तता के ये लक्षण हरे कृष्ण मंत्र का जप करने से

स्वतः ही उत्पन्न हुए थे, एवं इसे देखकर उनके गुरु ने पूरे विश्व में उनको प्रचार करने का आदेश दिया था। प्रकाशानंद से बात करते हुए, भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने *हरि-भक्ति-सुधोदय* (१४.३६) से एक महत्त्वपूर्ण श्लोक उद्धृत किया :

त्वत्-साक्षात्-करणाह्लाद-विशुद्धाब्धि-स्थितस्य मे।
सुखानि गोष्पदायन्ते ब्राह्मण्यपि जगद्गुरो।।

"मेरे प्रिय स्वामी, हे जगत् के नाथ, चूँकि मैंने आपको प्रत्यक्ष देख लिया है, अतः मेरे दिव्य आनंद ने एक महासागर का रूप ले लिया है। अतएव अब मैं निर्विशेष ब्रह्म-ज्ञान के आनंद को गाय के बछड़े के खुर में रखे जल के समान मानता हूँ।"

अतः, जो भक्तिमय सेवा की सिद्धावस्था तक पहुँच जाता है वह इतना तृप्त हो जाता है कि उसे और कुछ अधिक पाने की इच्छा नहीं रहती, तथा इस प्रकार वह सदा शुद्ध भक्तिमय सेवा में संलग्न रहता है।

सूत्र ७

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्।।७।।

सा—वह शुद्ध भगवत्प्रेम में भक्तिमय सेवा; **न**—नहीं; **कामयमाना**—साधारण कामवासना जैसी; **निरोध**—त्याग; **रूपत्वात्**—उसका रूप होने के कारण।

अनुवाद

शुद्ध भक्तिमय सेवा के प्रतिपादन में कामवासना का कोई प्रश्न नहीं क्योंकि उसमें सब भौतिक क्रियाओं का त्याग होता है।

तात्पर्य

शुद्ध भक्तिमय सेवा में इंद्रियतृप्ति का कोई प्रश्न नहीं। कुछ लोग कृष्ण एवं गोपियों के परस्पर प्रेम प्रसंगों को भ्रमवश साधारण इंद्रियतृप्ति की क्रियाएँ समझते हैं, किन्तु ये प्रसंग कामवासनायुक्त नहीं हैं क्योंकि उनमें कोई भौतिक दूषण नहीं है। जैसा रूप गोस्वामी ने अपने *भक्तिरसामृतसिन्धु* (१.२.२८५) में बताया है,

प्रेमैव गोप-रामाणां कामित्यगमत् प्रथाम।
इत्युद्धवादयोऽप्येतम् वाञ्छन्ति भगवत्-प्रियाः।।

"यद्यपि गोपियों के कृष्ण के साथ संबंध कई लोगों द्वारा भ्रमवश कामवासना

कहे जाते हैं, तथापि महात्मागण तथा उद्धव-सदृश संतजन कृष्ण के साथ इन्हीं प्रेम प्रसंगों की वाञ्छा करते हैं।" *चैतन्य-चरितामृत* के रचयिता, श्रील कृष्णदास कविराज ने इसीलिए कहा है,

काम, प्रेम—दोंहाकार विभिन्न लक्षण।
लौह आर हेम याछे स्वरूपे विलक्षण॥

"जिस प्रकार लौह एवं स्वर्ण में अंतर है, उसी प्रकार भौतिक कामवासना तथा कृष्ण के गोपियों के साथ प्रेम प्रसंगों में भी अंतर है। (*चै.च. आदि* ४.१६४) यद्यपि ऐसे प्रेम प्रसंग कभी-कभी भौतिक कामवासना जैसे प्रतीत हो सकते हैं, तथापि उनमें निम्नलिखित भेद हैं :

आत्मेंद्रिय-प्रीति-वाँछा—तारे बलि 'काम'।
कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा धरे 'प्रेम' नाम॥

"निजी इंद्रियों की संतुष्टि की इच्छा काम कहलाती है, जबकि कृष्ण की इंद्रियों की संतुष्टि की इच्छा प्रेम (भगवत्प्रेम) कहलाती है" (*चै.च. आदि* ४.१६५)

निर्विशेषवादी कृष्ण की इंद्रियों की संतुष्टि का सिद्धांत नहीं समझ सकते क्योंकि वे भगवान् के व्यक्तित्व को अस्वीकार करते हैं। अतः वे सोचते हैं कि भगवान् की इंद्रियाँ नहीं हैं तथा इसलिए इंद्रिय-संतुष्टि भी नहीं है। किन्तु भक्त बस भगवान् की इंद्रियों को संतुष्ट करना चाहते हैं, और इसलिए वे भगवत्प्रेम की शुद्ध क्रियाओं में भाग लेते हैं। उस शुद्ध दिव्य प्रेम की श्रेणी में कामवासना का कोई प्रश्न ही नहीं।

कामवासना इंद्रियतृप्ति हेतु सकाम कर्म तक पहुँचाती है। मनुष्य के लिए विभिन्न प्रकार के कर्तव्य हैं, जैसे राजनीतिक कर्तव्य, वैदिक अनुष्ठानों का पालन, देह-धारण के कर्तव्य, एवं सामाजिक औपचारिकताएँ तथा परम्पराएँ, किन्तु ये सब क्रियाएँ व्यक्ति की निज-इंद्रियों की संतुष्टि की ओर लक्षित रहती हैं। किन्तु गोपियाँ, केवल कृष्ण की इंद्रियों की संतुष्टि चाहती थीं, तथा इसलिए उन्होंने संबंधियों, अथवा पतियों के उलाहनों की चिंता न करते हुए सामाजिक बंधन का पारम्परिक मार्ग पूर्णतः त्याग दिया। उन्होंने कृष्ण की संतुष्टि हेतु सबकुछ न्योछावर कर दिया, और दिखा दिया कि कृष्ण के प्रति उनकी दृढ़ आसक्ति धुले श्वेत वस्त्र के समान निर्मल है।

यह कहा जाता है कि जब प्रेमी एवं प्रेमास्पद के बीच दाम्पत्य प्रेम विनाश के बिन्दु तक पहुँचकर भी विनष्ट नहीं होता, तो ऐसा संबंध शुद्ध प्रेम होता है। भौतिक जगत में इस प्रकार का प्रेम मिलना संभव नहीं, क्योंकि यह केवल कृष्ण एवं गोपीजन-सदृश उनके अंतरंग भक्तों के मध्य ही रहता है। गोपियों एवं कृष्ण के

मध्य का भाव इतना दृढ़ था कि किसी भी परिस्थिति में उसका विनाश नहीं हो सकता था। *श्रीमद्भागवतम्* (१०.३२.२२) में कृष्ण गोपियों के शुद्ध प्रेम की प्रशंसा करते हैं :

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जयगेह शृंखलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥

"मेरी प्रिय गोपियों, मैं तुम्हारी निर्मल सेवा का ऋण ब्रह्मा के जीवनकाल में भी चुका पाने में असमर्थ हूँ। मुझसे तुम्हारा संबंध लांछन से परे है। तुमने दुर्जय गृह-संबंधों को काटकर मेरी आराधना की है। अतः कृपया अपने उज्ज्वल कृत्यों को ही अपना पारितोषिक समझो।"

सूत्र ८

निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः॥८॥

निरोधः—त्याग; **तु**—भी; **लोक**—सामाजिक रीति के; **वेद**—तथा वेद शास्त्रों के; **व्यापार**—व्यापारों का; **न्यास**—त्याग।

अनुवाद

भक्तिमय सेवा में ऐसे निरोध का अर्थ है, समस्त प्रकार के लौकिक एवं वैदिक आदेशों से प्रेरित धार्मिक कर्मों का त्याग।

तात्पर्य

ललित-माधव के एक श्लोक (५.२) में श्रील रूप गोस्वामी भक्तिमय सेवा में त्याग की व्याख्या करते हैं :

ऋद्धा सिद्धि-व्रज-विजयिता सत्य-धर्मा समाधिर
ब्रह्मानंदो गुरुर अपि चमत्कारयत्येव तावत्।
यावत् प्रेम्णां मधु-रिपु-वशीकार-सिद्धौषधीनां
गंधोऽपि अंतःकरण-सरणी-पांथतां न प्रयाति॥

"समाधि, भगवान् से एक हो जाना, तथा ब्राह्मणत्व के धार्मिक सिद्धांत, जैसे सत्यवादिता और सहिष्णुता, इन सब क्रियाओं का अपना विशिष्ट आकर्षण है,

किन्तु जब व्यक्ति परम पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के प्रेम के वशीभूत हो जाता है, तो सिद्धि, ब्रह्मानंद एवं भौतिक धार्मिक सिद्धांत के प्रति आकर्षण महत्त्वहीन हो जाता है।"

अन्य शब्दों में, शुद्ध भक्तिमय सेवा के सम्पादन से व्यक्ति भगवत्प्रेम की उच्चतम अवस्था को प्राप्त करता है तथा *वेदों* के *कर्म-कांड, ज्ञान कांड* एवं *योग-कांड* के विभागों में वर्णित अन्य समस्त कर्तव्यों से मुक्त हो जाता है। शुद्ध भक्तिमय सेवा में संलग्न व्यक्ति को स्वयं को सुधारने की कोई इच्छा नहीं होती—सिवाय भगवान् की सेवा में। ऐसी भक्तिमय सेवा में भगवान् के निर्विशेष अथवा स्थानीय रूपों की आराधना नहीं हो सकती। भक्त बस वही क्रियाएँ करता है जिससे भगवान् संतुष्ट हों, एवं इस प्रकार वह शुद्ध भगवत्प्रेम लाभ करता है।

केवल शुद्ध भक्त, प्रामाणिक गुरु एवं स्वयं भगवान्—इन सब की संयुक्त कृपा के द्वारा ही व्यक्ति को भगवान् की शुद्ध भक्तिमय सेवा प्राप्त हो सकती है। यदि कोई व्यक्ति किसी शुद्ध भक्त के मिलने एवं उसे अपना गुरु स्वीकार करने में पर्याप्त सौभाग्यवान है, तो यह गुरु, अपनी अहैतुकी कृपावश, शुद्ध भक्तिमय सेवा का ज्ञान देगा। एवं ये स्वयं भगवान् ही हैं जो अपनी अहैतुकी कृपावश, अपने परम अंतरंग सेवक को इस जगत में शुद्ध भक्तिमय सेवा का निर्देश देने हेतु भेजते हैं।

गुरु की दिव्य कृपा से, शुद्ध भक्तिमय सेवा का बीज, जो सकाम कर्म एवं मनोधर्मी ज्ञान के बीज से सर्वथा भिन्न होता है, भक्त के हृदय में आरोपित होता है। तब, जब भक्त गुरु एवं कृष्ण को संतुष्ट करता है, भक्तिमय सेवा का यह बीज एक पौधे में पनप जाता है जो क्रमशः आध्यात्मिक जगत में पहुँचता है। एक साधारण पौधे को बढ़ने हेतु आश्रय की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार, भक्तिमय पौधा आध्यात्मिक जगत में आश्रय लेने तक बढ़ता रहता है। वह भौतिक जगत में किसी ग्रह का आश्रय नहीं लेता। अन्य शब्दों में, जो शुद्ध भक्तिमय सेवा के वशीभूत हैं वे किसी भौतिक लोक तक उठने की इच्छा नहीं रखते। आध्यात्मिक जगत का उच्चतम लोक, कृष्ण-लोक अथवा गोलोक वृंदावन है और भक्तिमय पौधा वहीं आश्रय लेता है।

नारद पंचरात्र शुद्ध भक्तिमय सेवा को निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित करता है :

सर्वोपाधि-विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेश-सेवनं भक्तिरुच्यते॥

"भगवान् के प्रति भक्तिमय सेवा का अर्थ है—समस्त इंद्रियों की उनकी सेवा में नियुक्ति। ऐसी सेवा में दो महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं : प्रथम, व्यक्ति सब उपाधियों से

शुद्ध होना चाहिए, एवं द्वितीय, इंद्रियों को केवल इंद्रियों के स्वामी, भगवान्, की सेवा में ही लगाना चाहिए। वही शुद्ध भक्तिमय सेवा है।"

आज हर कोई शरीर संबंधी विभिन्न उपाधियों से दूषित है। हर कोई सोच रहा है, "मैं उक्त देश का हूँ; मैं उक्त समाज का हूँ; मैं उक्त परिवार का हूँ।" किन्तु जब व्यक्ति शुद्ध भक्तिमय सेवा के स्तर पर आता है, तो वह जानता है कि वह भगवान् की सेवा के सिवाय किसी का नहीं।

शुद्ध भक्तिमय सेवा में अविचल श्रद्धा का लक्षण यह है कि व्यक्ति को शुद्ध भक्तिमय सेवा में अवरोधात्मक इच्छाओं का अतिक्रमण करना होता है, जैसे (१) देवताओं को पूजने की इच्छा, (२) कृष्ण से अलग किसी दूसरे की सेवा की इच्छा, (३) कृष्ण से अपने संबंध-ज्ञान के बिना इंद्रियतृप्ति की इच्छा, (४) निर्विशेष ज्ञान के अनुशीलन की इच्छा तथा उसके कारण कृष्ण का विस्मरण तथा (५) स्वयं को परम तत्त्व में स्थित करने की इच्छा, जिस प्रयत्न में भक्तिमय सेवा के आनंद का लेशमात्र भी नहीं रहता। व्यक्ति को इन सभी इच्छाओं का परित्याग करके एकमात्र भगवान् की प्रेममयी भक्तिमय सेवा में नियोजित हो जाना चाहिए। भगवान् की सेवा के सिवाय, अन्य कुछ भी करना माया की सेवा के अन्तर्गत आता है।

व्यक्ति को माया से बाहर निकलने की चेष्टा करनी चाहिए तथा कृष्ण की यथार्थ सेवा में संलग्न होना चाहिए। कृष्ण सेवा में सब इंद्रियाँ नियोजित होती हैं, एवं जब कृष्ण की सेवा में इंद्रियों को लगाया जाता है, तो वे शुद्ध हो जाती हैं। इंद्रियाँ दस हैं : पाँच कर्मेन्द्रियाँ एवं पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। मुँह, हाथ, पैर, गुदा एवं उपस्थ कर्मेन्द्रियाँ हैं। आँख, कान, नाक, जिह्वा एवं त्वचा ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। समस्त इंद्रियों का केन्द्र, मन, कभी-कभी ग्यारहवीं इंद्रिय माना जाता है।

अपनी वर्तमान भौतिक आवरणात्मक स्थिति में इन इंद्रियों द्वारा भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा में नियुक्त नहीं हुआ जा सकता। अतः उनकी शुद्धि हेतु व्यक्ति को भक्तिमय सेवा की पद्धति ग्रहण करनी चाहिए। इंद्रियों की शुद्धि हेतु वैधी-भक्ति के चौंसठ तत्त्व हैं, एवं व्यक्ति को यत्नपूर्वक इस वैधी-भक्ति में लगना चाहिए। तब व्यक्ति दिव्य प्रेममयी भगवद्-सेवा में आ सकता है (भक्तिमय सेवा के इन चौंसठ अंगों की पूर्ण व्याख्या हेतु सूत्र १२ देखें।)

सूत्र ९

तस्मिन्नन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च॥९॥

तस्मिन्—उनके लिए; **अनन्यता**—अनन्य समर्पण; **तत्**—उनके प्रति; **विरोधिषु**—विरोधी वस्तुओं के प्रति; **उदासीनता**—उदासीनता; **च**—और।

अनुवाद

वैराग्य से अभिप्राय है, भगवान् में अनन्यता तथा उनकी सेवा के प्रतिकूल विषय में उदासीनता।

तात्पर्य

भक्तिमय सेवा की अनन्य वृत्ति का वर्णन श्रील रूप गोस्वामी द्वारा *भक्तिरसामृतसिन्धु* (१.१.११) में भी किया गया है :

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

"जब प्रथम श्रेणी की भक्तिमय सेवा पनपती है, तो व्यक्ति को समस्त भौतिक इच्छाओं, अद्वैत दर्शन द्वारा प्राप्त ज्ञान, तथा सकाम कर्म से रहित होना चाहिए। भक्त को सदा अनुकूल भाव से, कृष्ण की इच्छानुसार, कृष्ण की सेवा करनी चाहिए।"

शुद्ध भक्त निस्वार्थ भगवद्-सेवा हेतु अपने संकल्प में इतने अनन्य होते हैं कि वे भगवान् द्वारा प्रदान किए जाने पर भी किसी प्रकार की मुक्ति स्वीकार नहीं करते। यह *श्रीमद्भागवतम्* (३.२९.१३) में सुनिश्चित है।

"मिश्र-भक्ति" भी होती है, जो शुद्ध भक्तिमय सेवा की अवस्था से पूर्व की अवस्था है। उसे कभी कभी प्राकृत-भक्ति अर्थात भौतिक कामनाओं से मिश्रित भक्ति भी कहा जाता है। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "जब स्वार्थ का रंचमात्र भी रहता है, तो उसकी भक्ति भौतिक प्रकृति के तीन गुणों से मिश्रित होती है" (*भागवत* ३.२९.९, तात्पर्य)। अतः *मिश्र-भक्ति* तमोगुण, रजोगुण तथा सतोगुण के विभिन्न संमिश्रणों में हो सकती है। श्रील प्रभुपाद मिश्र-भक्ति की समुचित व्याख्या करते हैं :

> तमोगुण, रजोगुण तथा सतोगुण में भक्तिमय सेवा को इक्यासी श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। भक्तिमय क्रियाएँ विभिन्न हैं जैसे श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन, वंदन, दास्यम् एवं आत्मनिवेदनम्, तथा इनमें से प्रत्येक को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। श्रवण तमोगुण में, रजोगुण में और सतोगुण में हो सकता है। इसी प्रकार, कीर्तन तमोगुण, रजोगुण और सतोगुण में हो सकता है, इत्यादि... व्यक्ति को शुद्ध भक्तिमय सेवा के स्तर तक पहुँचने हेतु सभी प्रकार की मिश्रित भौतिकतावादी भक्तिमय सेवा का अतिक्रमण करना होता है।

एक प्रकार की मिश्रित भक्तिमय सेवा को *ज्ञान-मिश्र-भक्ति,* अर्थात शुष्क ज्ञान से मिश्रित भक्तिमय सेवा, कहते हैं। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "साधारणतया उन लोगों के पास, जो *अविद्या-शक्ति या माया* के प्रभाव में रहते हैं, न तो ज्ञान होता है न ही भक्ति। किन्तु जब कोई व्यक्ति जो थोड़ा उन्नत होने पर *ज्ञानी* कहलाता है, और उन्नति करता है तो वह *ज्ञान-मिश्र-भक्त*, अर्थात जिस भक्त का प्रेम शुष्क ज्ञान से मिश्रित हो, की श्रेणी में होता है।" (*भागवत.* ४.९.१६, तात्पर्य)

नारद द्वारा भक्ति की परिभाषा, "भगवान् के प्रति अनन्य समर्पण" होने से मुक्तावस्था में शुद्ध भक्तिमय सेवा की ओर निर्देश करती है। यह श्रील प्रभुपाद द्वारा *नारद-भक्ति-सूत्र के प्रथम सूत्र* पर उनकी टीका में भी उल्लेखित है, जहाँ वे कहते हैं कि शुद्ध भक्तिमय सेवा *ब्रह्मभूत* या मुक्त अवस्था के पश्चात् ही आरंभ होती है।

शुद्ध भक्त *अकाम,* अर्थात भौतिक इच्छारहित, होता है। वह अपनी यथार्थ स्थिति से अवगत रहता है तथा केवल भगवद्-सेवा से ही संतुष्टि पाता है। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "श्रील जीव गोस्वामी ने अपने संदर्भों में इस इच्छाविहीनता की व्याख्या इस प्रकार की है : *भजनीय-परम-पुरुष-सुख-मात्र-स्वसुखत्वम्*। इसका अर्थ है कि व्यक्ति को भगवान् के सुख का अनुभव करने मात्र में ही सुखी होना चाहिए।" (*भागवत.* २.३.१०, तात्पर्य)

वर्तमान सूत्र में नारद मुनि कहते हैं कि शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा के प्रतिकूल विषय में उदासीन रहता है। यदि भक्त अपनी भगवत्सेवा में किसी अवरोध का सामना करता है तो वह भगवान् से कृपा करके उसे हटाने की विनती करता है। महारानी कुन्ती एक उत्तम उदाहरण हैं :

अथ विश्वेश विश्वात्मन् विश्व-मूर्ते स्वकेषु मे।
स्नेह-पाशम् इमं छिन्धि दृढं पाण्डुषु वृष्णिषु।।
त्वयि मेऽनन्य-विषया मतिर मधुपतेऽसकृत।
रतिम् उद्वहताद् अद्धा गंगेवौघम् उदन्वति।।

"हे विश्व के स्वामी, विश्व की आत्मा, हे विश्वमूर्ति, कृपया, इसलिए, मेरे स्वजन पाँडवों तथा वृष्णियों के प्रति मेरे स्नेहपाश को काट दो। हे मधुपति, जिस प्रकार गंगा सदा निरवरोध सागर की ओर प्रवाहित होती है, मेरा आकर्षण भी किसी अन्य में बँटे बिना आप में सदा लगा रहे।" (*भागवत.* १.२.४०-४१)

ऐसे भक्तों का, जो अपनी कृष्ण-सेवा के पथ पर किसी वस्तु को नहीं रहने देते, परम उदाहरण वृंदावन की गोपियाँ हैं। तथा सब गोपियों में श्रीमती राधारानी सर्वश्रेष्ठ हैं। कृष्ण-सेवा की उनकी दृढ़ता का सुंदर वर्णन श्रील रूप गोस्वामी के *विदग्ध-माधव* के इस श्लोक (३.९) में हुआ है :

हित्वा दूरे पथि धव-तरोरन्तिकं धर्म-सेतोर
भंगोदग्रा गुरु-शिखरिणां रम्हसा लंघयन्ति।
लेभे कृष्णार्णव-नव-रसा राधिका-वाहिनी त्वां
वाग्-वीचीभिः किमिव विमुखी-भावमस्यास्तनोषि।।

"हे भगवान् कृष्ण, आप ठीक सागर के समान हैं। श्रीमती राधारानी की नदी बड़ी दूर से आप तक पहुँची है—अपने पति के वृक्ष को पीछे छोड़कर, सामाजिक परम्परा के सेतु को तोड़कर, तथा बड़े स्वजनों के पर्वतों को वेगपूर्वक लाँघकर।"

यद्यपि कृष्ण की शुद्ध भक्ति अनन्य होती है, तथापि वह संकुचित-मानसिकतापूर्ण, साम्प्रदायिक भक्ति नहीं। कृष्ण सब प्रवाहों के स्रोत, परम पुरुषोत्तम भगवान् हैं; अतः कृष्ण प्रेम में सारे प्राणियों से प्रेम निहित है। श्रील प्रभुपाद ने इसकी व्याख्या उस स्त्री का घरेलू उदाहरण देकर की थी जो विवाह करके अपने पति के परिवार में सम्मिलित हो जाती है। केवल एक व्यक्ति से विवाह द्वारा, वह उसके परिवारजनों से स्वतः ही आंतरिक रूप से संबंधित हो जाती है, जो अब उसके देवर, ससुर, सास इत्यादि बन जाते हैं। इसी प्रकार, जब हम कृष्ण की प्रेममयी सेवा द्वारा उनसे युक्त हो जाते हैं तो हम उनके परिवार में आ जाते हैं, जिसमें समस्त जीव सम्मिलित हैं। श्रील प्रभुपाद *भक्तिरसामृतसिन्धु* के प्राक्कथन में इसका वर्णन करते हैं :

> जीवित स्थिति का आधारभूत सिद्धांत यह है कि हममें किसी को प्रेम करने की प्रवृत्ति है। कोई भी किसी अन्य को प्रेम किए बिना नहीं रह सकता... किंतु रिक्त बिन्दु यह है कि हम कहाँ अपने प्रेम का निवेश करें जिससे सभी सुखी हो सकें... *भक्तिरसामृतसिंधु* हमें कृष्ण को प्रेम करने की सरल पद्धति द्वारा समस्त प्राणियों को पूर्ण प्रेम करने के विज्ञान की शिक्षा देता है। संयुक्त राष्ट्र जैसे बड़े प्रयत्नों द्वारा भी हम शांति तथा मैत्री स्थापित करने में असफल रहे हैं क्योंकि हमें यथार्थ पद्धति का ज्ञान नहीं।

भगवद्गीता के उपसंहार में (१८.६६) कृष्ण कहते हैं

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

"विभिन्न प्रकार के धर्मों का परित्याग करके बस मेरे शरणागत हो जाओ। मैं तुम्हें सारे पापों से मुक्त कर दूँगा। डरो मत।" यदि कोई भगवान् की अनन्य भक्ति को ग्रहण करने में बाधाओं अथवा अन्यान्य कर्तव्यों में शिथिलता के भय से हिचकिचाये तो कृष्ण हमें निश्चिंत करते हैं कि डरने का कोई कारण नहीं। श्रील

प्रभुपाद लिखते हैं, "यहाँ प्रयुक्त विशिष्ट शब्द, *मा शुचः*, 'भय मत करो, हिचकिचाओ मत, चिंता मत करो', बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। व्यक्ति संशय कर सकता है कि कोई कैसे हर प्रकार के धर्म को त्यागकर बस कृष्ण के प्रति शरणागत हो सकता है, परन्तु ऐसी चिंता निरर्थक है।"

सूत्र १०

अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता॥१०॥

अन्य—अन्य; **आश्रयाणां**—आश्रयों का; **त्यागः**—त्याग; **अनन्यता**—अनन्यता।

अनुवाद

भगवान् को छोड़कर अन्य समस्त आश्रयों के त्याग को अनन्यता कहते हैं।

तात्पर्य

जैसा ऊपर वर्णित है, *भगवद्गीता* (१८.६६) में भगवान् कृष्ण अर्जुन को आत्म-ज्ञान की सभी पद्धतियों को त्यागकर एकमात्र उन्हीं के प्रति शरणागत होने का परामर्श देते हैं। आत्मा का ज्ञान, अन्तर्यामी परमात्मा का ज्ञान, वर्णोचित कर्म संपन्न करने का ज्ञान, त्याग का ज्ञान, विरक्ति का ज्ञान, मन व इंद्रिय-नियंत्रण का ज्ञान, ध्यान का ज्ञान, तथा यौगिक सिद्धि द्वारा भौतिक शक्ति प्राप्त करने का ज्ञान वे सभी आध्यात्मिक पूर्णता के विभिन्न स्तरों तक पहुँचाने वाले विभिन्न प्रकार के "आश्रय" हैं। किन्तु *भगवद्गीता* में भगवान् का अंतिम निर्देश यही है कि इन विभिन्न आश्रयों का परित्याग करके बस उनकी प्रेममयी, भक्तिमय सेवा को ग्रहण किया जाए, एवं भगवान् के प्रति इसी शरणागति से हमारी समस्त प्रकार के पापों से रक्षा होगी। अन्य शब्दों में, परम पुरुषोत्तम भगवान्, कृष्ण, में सीधी आसक्ति तथा उनकी दिव्य सेवा में नियुक्ति आध्यात्मिक जीवन की परमोच्च सिद्धियाँ हैं।

सूत्र ११

लोकवेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता॥११॥

तथा इच्छाएँ स्वतंत्र नहीं हैं। अन्य शब्दों में, भक्त को कृष्ण पर पूर्ण निर्भर होने का अनुभव करना चाहिए, तथा कृष्ण की इच्छानुसार ही चिंतन व कार्य करना चाहिए। (६) अपने को सदा अकिंचनों में भी अकिंचन विचारना तथा कृष्ण की कृपा पर पूर्णतः निर्भर रहने का अनुभव करना।

शरणागति के इन छः सिद्धांतों का पालन करने वाला भक्त सदा सोचता है, "हे प्रभु! मैं हर प्रकार से तुम्हारा हूँ; मैं तुम्हारा नित्य दास हूँ।" इस प्रकार शुद्ध भक्त निर्मल हो जाता है। *श्रीमद्भागवतम्* (११.२९.३४) में इस संदर्भ में एक सुंदर श्लोक है :

मर्त्यो यदा त्यक्त-समस्त-कर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयात्मा-भूयाय च कल्पते वै।।

"जो व्यक्ति समस्त सकाम कर्मों को त्याग कर, मेरी सेवा की तीव्र इच्छा से स्वयं को पूर्णतः मुझे अर्पित कर देता है, वह जन्म और मृत्यु से मुक्ति पाता है तथा मेरे निजी ऐश्वर्यों में हिस्सा पाने के पद पर पदोन्नत होता है।" ऐसे भक्तिमय जीवन तक उत्थान हेतु व्यक्ति को शास्त्रों के निर्देशों का पालन करना होता है। किन्तु भक्तिमय जीवन तक पहुँच कर भी, व्यक्ति को यह नहीं सोचना चाहिए कि, "अहा, मैं अब उच्चतम अवस्था तक पहुँच गया हूँ अतः मैं भक्तिमय सेवा के प्रतिपादन हेतु शास्त्रीय उल्लंघन कर सकता हूँ।"

भक्तिमय सेवा प्रत्येक जीव में सुप्त है, क्योंकि प्रत्येक जीव स्वभाव से ही भगवान् का अविच्छिन्न अंश है तथा अंश की स्वस्थ स्थिति पूर्ण की सेवा करने की ही होती है। यह शरीर के विभिन्न अंगों के ही समान है। हाथ तथा पैर शरीर की सेवा करते हैं; इसी प्रकार, प्रत्येक जीव भी अपनी स्वस्थ स्थिति में भगवान् का अंश होने के नाते उनकी सेवा करने को बाध्य है। जब वह इस प्रकार नियुक्त नहीं होता तो वह रोगग्रस्त स्थिति में होता है, किन्तु जैसे ही वह अपनी समस्त इंद्रियों को भगवान् की दिव्य प्रेममयी सेवा में संलग्न करता है, वह अपनी स्वाभाविक, स्वस्थ स्थिति में होता है।

प्रामाणिक शास्त्रों के निर्देशों के अनुसार तथा प्रामाणिक गुरु के मार्गदर्शन में ही भक्त को अपनी इंद्रियों को भगवान् की सेवा में नियोजित करना चाहिए। कान को *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवतम्* की शिक्षाओं के श्रवण में लगाना भक्तिमय प्रशिक्षण का आरंभ है। आध्यात्मिक ज्ञान के कई प्रामाणिक ग्रंथ हैं, किन्तु वे सारे न्यूनाधिक *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवतम्* के ही परिशिष्ट हैं। यहाँ तक कि

नारद-भक्ति-सूत्र भी *भगवद्गीता* एवं *श्रीमद्भागवतम्* का सारांश है। अतः भक्तिमय सेवा का आरंभ इन दो महत्त्व-पूर्ण दिव्य ज्ञानग्रंथों का श्रवण है। प्रामाणिक गुरु द्वारा इन्हीं दो ग्रंथों के श्रवण मात्र से व्यक्ति भक्तिमय सेवा के बारे में चेतन होता है, जो हृदय में सुप्त होती है।

गुरु के मार्गदर्शन में एवं शास्त्रीय निर्देशों के अनुसार भक्तिमय सेवा का प्रतिपादन *वैधी-भक्ति* कहलाता है, जो *साधन-भक्ति* का विभाग है। *साधन-भक्ति* का अन्य विभाग *रागानुगा-भक्ति* है।

रागानुगा-भक्ति के स्तर पर प्रगति करने के इच्छुक को गुरु के निर्देशन में प्रामाणिक शास्त्रों के निर्देशों का पालन करना चाहिए। सूत्र १२ के अनुसार, भक्तिमय सेवा के उत्कृष्ट स्तर पर व्यक्ति को भी शास्त्रों के विधि-निषेधों का पालन करना चाहिए, फिर उस स्तर से नीचे के व्यक्तियों का तो कहना ही क्या? अन्य शब्दों में, भक्तिमय सेवा में नौसिखियों को विशुद्ध भक्तिमय सेवा के स्तर तक उठने हेतु गम्भीरता एवं तत्परता से शास्त्रों के विधि विधानों का अनुसरण करना चाहिए।

जैसा कि ऊपर वर्णित है, भक्त दृढ़ता से *वैधी-भक्ति* का अभ्यास करता है। *श्रीमद्भागवतम्* (२.१.५) में वर्णित *वैधी-भक्ति* का प्रधान सिद्धांत यह है :

तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् ईश्वरो हरिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्याश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्॥

"भक्तिमय सेवा में गम्भीरतापूर्वक प्रगति चाहने वाले व्यक्ति को सदा परम पुरुषोत्तम भगवान् का स्मरण, कीर्तन तथा उनकी लीलाओं का श्रवण करते रहना चाहिए।"

शास्त्रोक्त वधि-विधानों के पालन में यह प्राथमिक सिद्धांत है।

श्रीमद्भागवतम् (११.५.२) में कहा गया है,

मुख-बाहूरु-पादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर विप्रादयः पृथक्॥

प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह कोई भी हो, भगवान् के विराट-पुरुष स्वरूप से ही निसृत होता है। ब्राह्मण मुख से निसृत होते हैं, क्षत्रिय बाहुओं से, वैश्य जंघाओं से, एवं शूद्र चरणों से निसृत होते हैं। किन्तु हम जहाँ कहीं भी स्थित हों, हमें परम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की सेवा में किसी कार्यविशेष का सम्पादन करना होता है। अतः यदि हम अपनी विशिष्ट प्रवणताओं को भगवान् की सेवा में नहीं लगाते, तो हम पतित हैं, शरीर से कटे हुए बेकार अंग के ही समान!

पद्म पुराण के अनुसार, शास्त्र के सभी विधानों का सार यही है कि भगवान् विष्णु, या कृष्ण, का सतत स्मरण हो और कभी भी विस्मरण न हो। अतः हमें

अपने जीवनों को कुछ इस प्रकार ढालना होगा कि हर क्रिया में हम भगवान् का स्मरण कर सकें। भगवान् का स्मरण कराने वाली प्रत्येक क्रिया भक्तिमय सेवा में वैधानिक सिद्धांत है, एवं भगवान् का विस्मरण कराने वाली प्रत्येक क्रिया भक्ति हेतु वर्जित क्रिया है।

चैतन्य-चरितामृत (*मध्य* २२.११५-२८) में भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु भक्तिमय सेवा के उच्चतम स्तर तक पहुँचने हेतु चौंसठ वैधानिक सिद्धांतों का वर्णन करते हैं, जिनका पालन हमें अवश्य करना चाहिए। एवं, जैसा सूत्र १२ में बलपूर्वक कहा गया है, भक्तिमय सेवा के सर्वोच्च स्तर पर पहुँचकर भी व्यक्ति को भक्तिमय जीवन हेतु शास्त्रोक्त निर्देशों का पालन करते रहना चाहिए। चौंसठ वैधानिक सिद्धांत इस प्रकार हैं :

(१) प्रामाणिक गुरु स्वीकार करना। (२) गुरु से दीक्षित होना। (३) गुरु की सेवा में स्वयं को नियुक्त करना। (४) गुरु से निर्देश पाना एवं भक्तिमय सेवा के पथ पर प्रगति करने संबंधी जिज्ञासा करना। (५) पूर्व आचार्यों के पदचिह्नों का अनुसरण करना तथा गुरु के निर्देशों का पालन करना। (६) कृष्ण की संतुष्टि हेतु किसी भी वस्तु का त्याग करना, एवं कृष्ण की संतुष्टि हेतु किसी भी वस्तु को स्वीकार करना। (७) ऐसे स्थान पर निवास करना जहाँ कृष्ण हों—वृंदावन या मथुरा जैसा शहर, या श्रीकृष्ण का मंदिर। (८) भक्तिमय सेवा के प्रतिपादन हेतु सुविधापूर्वक रहते हुए जीविकोपार्जन को कम से कम कर देना। (९) एकादशी-सदृश उपवास करना। (१०) गौओं, ब्राह्मणों, वैष्णवों तथा वटवृक्ष-सदृश पवित्र वृक्षों की पूजा करना।

भक्तिमय सेवा के ये दस सिद्धांत प्रारंभिक हैं। अन्य सिद्धांत इस प्रकार हैं : (११) पवित्र नाम, विग्रह, आदि के प्रति अपराधों से बचना। (१२) अभक्तों के संग से बचना (१३) अनेक शिष्य होने की स्पृहा से रहित होना। (१४) विद्वान् दिखने हेतु अनेक ग्रंथों का अल्प अध्ययन करके अनावश्यक ध्यान नहीं बाँटना चाहिए। भक्तिमय सेवा के लिए, *भगवद्गीता, श्रीमद्भागवतम्* और *चैतन्य चरितामृत* सदृश ग्रंथों का सम्यक् अध्ययन पर्याप्त है। (१५) लाभ या हानि में उद्वेग नहीं करना। (१६) किसी भी कारण से शोक द्वारा अभिभूत नहीं होना। (१७) देवताओं की निंदा नहीं करना, यद्यपि उनका पूजन भी नहीं करना। इसी प्रकार, अन्य शास्त्रों की निंदा नहीं करना, यद्यपि उनमें वर्णित सिद्धांतों का पालन न करना। (१८) भगवान् या उनके भक्तों की निंदा सहन न करना। (१९) स्त्री-पुरुष संबंधों के विषय जैसी व्यर्थ वार्ताओं में भाग न लेना। (२०) किसी भी प्राणी को अनावश्यक उद्वेग नहीं पहुँचाना।

उपरोक्त वर्णित बीस तत्त्व भक्तिमय सेवा का द्वार हैं। एवं उनमें से प्रथम तीन, अर्थात्—गुरु का स्वीकृतिकरण, गुरु से दीक्षा एवं गुरु की सेवा सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। उसके बाद निम्न तत्व आते हैं : (२१) भगवान् के बारे में श्रवण करना। (२२) उनके यश का गायन या कीर्तन करना। (२३) उनका स्मरण करना। (२४) भगवान् एवं उनके भक्तों के चरणकमलों का ध्यान एवं सेवा करना। (२५) उनका पूजन करना। (२६) उनसे प्रार्थना करना। (२७) स्वयं को भगवान् का नित्य दास मानना। (२८) भगवान् का सखा बनना। (२९) भगवान् को सर्वस्व समर्पित कर देना। (३०) विग्रह के आगे नृत्य करना। (३१) विग्रह के आगे गाना। (३२) अपने जीवन के सब ब्यौरों की सूचना भगवान् को देना। (३३) भगवान् के आगे झुकना। (३४) उपयुक्त समय पर खड़े होकर गुरु एवं भगवान् को सम्मान देना। (३५) गुरु या भगवान् का जुलूस में अनुसरण करना। (३६) तीर्थस्थलों एवं भगवान् के मंदिरों को जाना। (३७) मंदिर की परिक्रमा करना। (३८) प्रार्थनाएँ करना। (३९) मधुर स्वर में भगवन्नाम-जप करना। (४०) सम्मेलन में ऊँचे स्वर में भगवन्नाम का कीर्तन करना। (४१) विग्रह को अर्पित धूप एवं पुष्प को सूँघना। (४२) विग्रह को अर्पित भोग का उच्छिष्ट खाना। (४३) विग्रह को अर्पित आरती एवं विशेष उत्सवों में जाना। (४४) विग्रह को नियमित रूप से देखना। (४५) अपने सबसे प्रिय संसाधनों को भगवान् को अर्पित करना। (४६) भगवान् के नाम, रूप, लीलाओं, इत्यादि पर ध्यान करना। (४७) तुलसी के पौधे को सींचना। (४८) भगवद-भक्तों की सेवा करना। (४९) वृंदावन या मथुरा में रहने का प्रयत्न करना। (५०) *श्रीमद्भागवतम्* के विषयों का आस्वादन करना। (५१) कृष्ण के लिए सब प्रकार के खतरे उठाना। (५२) सदा कृष्ण की कृपा की अपेक्षा करना। (५३) भक्तों के साथ जन्माष्टमी तथा रामनवमी जैसे पर्व मनाना। (५४) कृष्ण को पूर्ण समर्पण कर देना। (५५) कार्तिक मास जैसे समय में विशेष विधानों का पालन करना। (५६) शरीर को वैष्णव तिलक से सजाना। (५७) देह को भगवन्नामों से चिन्हित करना। (५८) भगवान् को अर्पित प्रसादी पुष्पमालाओं को स्वीकार करना। (५९) चरणामृत पीना।

इन उनसठ तत्त्वों में से, पाँच इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि वे पृथक् रूप से पुनः वर्णित हैं, जिससे भक्तिमय सेवा के चौंसठ तत्त्व पूरे हो जाते हैं। ये पाँच हैं (६०) भक्तों का संग करना। (६१) भगवन्नाम का जप करना। (६२) *श्रीमद्भागवतम्* का श्रवण करना। (६३) मथुरा-सदृश तीर्थस्थल में निवास करना, एवं (६४) श्रद्धा और विश्वास से विग्रह-पूजा करना।

सूत्र १३

अन्यथा पातित्यशङ्कया ॥ १३ ॥

अन्यथा—अन्यथा; **पातित्य**—पतित होने की; **शङ्कया**—संभावना है।

अनुवाद

अन्यथा पतन होने की पूर्ण सम्भावना है।

तात्पर्य

यदि किसी रोगी के रोग के लक्षणों का इलाज चल रहा है किन्तु वह स्वस्थ जीवन के सिद्धांतों का पालन न करे, तो रोग के लौटने की पूर्ण सम्भावना है। इसी प्रकार, भक्तिमय सेवा में प्रगति के प्रति गम्भीर नवदीक्षित भक्त को सावधानीपूर्वक वैधी-भक्ति के सिद्धांतों का पालन करना चाहिए; अन्यथा उसके पतन की पूर्ण सम्भावना है। दृढ़ता से कहा जाए तो, यदि कोई भक्त वैधानिक सिद्धांतों की अवहेलना करके अपनी सनक के अनुसार क्रिया करता है—उदाहरणस्वरूप, यदि वह *कृष्ण-प्रसादम्* न खाकर जहाँ-तहाँ, जैसे होटलों में, खाता फिरता है—तो उसके पतन की पूर्ण सम्भावना है। यदि वह भक्तिमय सेवा हेतु व्यय न करते हुए धन का संग्रह करे, तो उसके पतन की पूर्ण सम्भावना है। यदि वह अपनी शक्ति का भगवद्-सेवा में प्रयोग न करके उसे किसी भौतिक कार्य में लगाता है, तो उसके पतन की पूर्ण सम्भावना है। यदि भक्त कृष्ण-कथा के श्रवण और कीर्तन में सदा नियोजित नहीं रहता, अपितु फालतू चर्चा में नियोजित होता है, तो उसके पतन की पूर्ण सम्भावना है। यदि नवदीक्षित भक्त गुरु के आदेशों का पालन नहीं करता एवं केवल बाह्य रूप से सिद्धांतों से चिपका रहता है, अथवा यदि वह दृढ़ता से सिद्धांतों का पालन नहीं करता, तो उसके पतन की पूर्ण सम्भावना है। लोभ में फँसना पतन का एक और कारण है। एवं अभक्तों का संग करना भक्त के पतनकारी कारण में माया के प्रलोभनों का चरमोत्कर्ष है।

भगवद्गीता (१८.५) में, कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि अध्यात्मवादी के लिए यज्ञ, दान तथा तप कभी त्याज्य नहीं। यदि वह थोड़ा भी बुद्धिमान है तो उसे उच्चावस्थित होने पर भी इन तीन क्रियाओं को जारी रखना चाहिए। भक्त स्वाभाविक रूप से विनम्र होता है, एवं उच्चावस्थित होने पर भी वह स्वयं को वैसा नहीं मानता। *चैतन्य-चरितामृत* के रचयिता, श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी के जीवन में इसका

व्यावहारिक उदाहरण मिलता है। वे अति विद्वान पंडित तथा प्रथम-श्रेणी के भक्त थे, तथापि वे स्वयं को नराधम, विष्ठा के कीड़े से भी नीचा मानते थे। उन्होंने लिखा कि वे इतने पापी थे कि किसी को उनका नाम तक नहीं लेना चाहिए, अन्यथा उसका पतन हो जाएगा। निश्चित ही, जब कोई महान भक्त इस प्रकार बोले, तो हमें यह नहीं मान बैठना चाहिए कि वह वास्तव में जीवन के निम्न स्तर पर है; अपितु हमें इसको प्रमाण समझना चाहिए कि विनम्रता में शुद्ध भक्त कभी स्वयं को उच्चावस्थित नहीं समझता। वह स्वयं को आध्यात्मिक जीवन में अधम ही मानता है।

जैसा ऊपर वर्णित है, *भगवद्गीता* में कृष्ण कहते हैं कि किसी को भी आध्यात्मिक जीवन के यज्ञ अंश का त्याग नहीं करना चाहिए। एवं शास्त्र संस्तुत करते हैं कि इस कलियुग में सर्वश्रेष्ठ यज्ञ *हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे* का जप है। अतः भक्त का मुख्य कर्तव्य इस महामंत्र का सतत जप है, यदि वह उच्चावस्थित हो, तो भी। अन्यथा, वह किसी भी स्थिति में नीचे गिर सकता है।

सूत्र १४

लोकेऽपि तावदेव भोजनादिव्यापारस्त्वाशरीरधारणावधि॥१४॥

लोके—लौकिक व्यवहार; **अपि**—भी; **तावत्**—तब तक; **एव**—निश्चित ही; **भोजन**—भोजन, आदि-आदि; **व्यापारः**—क्रिया; **तु**—और; **आ-शरीर-धारणा-अवधि**—इस शरीर को धारण करने की अवधि तक।

अनुवाद

शरीर-धारण की अवधि तक, व्यक्ति को लौकिक तथा राजनीतिक क्रियाओं एवं भोजनादि व्यापारों में कम से कम नियोजित होना चाहिए।

तात्पर्य

आध्यात्मिक जीवन तब आरंभ होता है जब व्यक्ति यह समझ जाता है कि वह शरीर नहीं है। भौतिक जगत में, हमारे सारे संबंध—चाहे लौकिक या राजनीतिक हों अथवा आहार, निद्रा, भय एवं मैथुन के क्षेत्र में हों—केवल भौतिक शरीर के

कारण हैं। जब तक व्यक्ति इस तथ्य से पूर्णतः अवगत नहीं हो जाता कि वह शरीर नहीं है, तब तक आत्म-ज्ञानी बनना संभव नहीं।

भगवद्गीता (१८.५४) में भगवान् कृष्ण, आत्म-ज्ञान का इस प्रकार वर्णन करते हैं :

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"आत्म-ज्ञान (*ब्रह्म-भूत* अवस्था) का लक्षण है आनंदपरिपूर्णता। व्यक्ति किसी हानि का शोक नहीं करता, और न ही किसी लाभ का हर्ष मनाता है। वह आध्यात्मिक समझ द्वारा सभी को एक ही स्तर पर देखता है। भक्तिमय सेवा में आने हेतु ये प्राथमिक गुण हैं।"

फिर भी, शुद्ध भक्तिमय सेवा इतनी शक्तिशाली है कि ब्रह्मभूत जीवन की पूर्व योग्यता अर्जित न किए हुए भी इसको तुरन्त ग्रहण किया जा सकता है। भगवान् की सेवा में नियुक्त गम्भीर भक्त स्वतः ही *ब्रह्म-भूत* स्तर पर स्थित हो जाता है। पूर्वकथनानुसार भक्त का एकमात्र कर्तव्य वैधी-भक्ति के सिद्धांतों का गम्भीरता से पालन करना है। अतः भक्त को सामाजिक एवं राजनीतिक कर्तव्यों में अधिक रुचि नहीं लेनी चाहिए, क्योंकि ऐसी समस्त क्रियाएँ शरीर से संबंधित हैं। इसी प्रकार उसे अपना भोजन भी सीमित करना चाहिए; यह भक्तिमय सेवा के अनुशीलन में आवश्यक है। भक्त स्वेच्छानुसार जो कुछ अथवा सब कुछ नहीं खा सकता; उसे भगवान् को अर्पित खाद्य-सामग्री ही खानी चाहिए। भगवान् स्पष्ट कहते हैं (*भगवद्गीता* ९.२६) कि वे पुष्प, फल, पत्र या थोड़े जल को, भक्तिमय प्रेम से उन्हें अर्पित होने पर, स्वीकार करते हैं। (उल्लेखनीय है कि भगवान् केवल शाक-समूह के खाद्य-पदार्थ तथा दुग्ध-उत्पादन ही स्वीकार करते हैं। दुग्ध एवं दुग्ध-उत्पादन "जल" के अंतर्गत हैं।) भगवान् भूखे या निर्धन नहीं हैं जो उन्हें हमारे नैवेद्य की आवश्यकता पड़े। वास्तव में, उन्हें कुछ खाने को अर्पण करने में हमारा ही लाभ है। यदि भगवान् कृपापूर्वक हमारा भोग स्वीकार करें, तो हम लाभान्वित होते हैं। भगवान् पूर्ण हैं, किन्तु इस विश्वव्यापक सिद्धांत की स्थापना हेतु कि उन्हें कोई भी कुछ अर्पण कर सकता है, वे क्षुद्रातिक्षुद्र भोग को भी स्वीकारते हैं—जब वह प्रेम से दिया जाता है। अत्यंत निर्धन व्यक्ति भी एक पुष्प, एक पत्ता, एक फल तथा थोड़े जल का संग्रह करके उन्हें भगवान् को अर्पित कर सकता है।

समस्त कृष्ण भक्तों के लिए यह आवश्यक है कि वे भगवान् को अनर्पित कोई वस्तु न खायें। इस सिद्धांत का दृढ़ता से पालन न करने वाले भक्त का पतन अवश्यसम्भावी है। इसी प्रकार, *प्रसादम्* को अस्वीकार करने वाला भक्त नहीं बन

सकता।

श्रीमद्भागवतम् (५.५.३) में भगवान् ऋषभदेव कहते हैं कि जो शुद्ध भक्त बनने को दृढ़ है, वह उन सामान्य लोगों के संग से बचता है जो केवल आहार, निद्रा, भय और मैथुन की पाशविक प्रवृत्तियों में ही संलग्न रहते हैं। लोगों का सामान्य समूह भ्रमवश स्वयं को शरीर मानता है, एवम् इसलिए वे सदा शरीर को सुंदर ढंग से चलाने में ही व्यस्त रहते हैं। भक्त को ऐसे लोगों का संग नहीं करना चाहिए। न ही उसे अपने परिवार के सदस्यों के प्रति अत्यधिक आसक्त होना चाहिए, यह जानते हुए कि केवल प्रारब्धवश उसे अपनी पत्नी, संतानादि के साथ रखा गया है। आध्यात्मिक रूप से कोई किसी की पत्नी नहीं, पुत्र नहीं, पति नहीं, या पिता नहीं। हर कोई इस संसार में पूर्व कर्मानुसार आता है एवं माता-पिता का आश्रय लेता है, किन्तु यथार्थ में कोई किसी का माता-पिता नहीं। जबकि भक्त को यह जानना चाहिए, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह अपने परिवार की उपेक्षा करे। कर्तव्य रूप से उसे अनासक्त होकर अपने पारिवारिक सदस्यों का पोषण करना चाहिए एवं उन्हें कृष्णभावनामृत में शिक्षित करना चाहिए।

अतः, सामाजिक या राजनीतिक जीवन में, अथवा आहार, निद्रा, भय और मैथुन में, भक्त को भौतिक आसक्ति से दूषित कोई भी कार्य करने से बचना चाहिए। जैसे भक्त कृष्ण को अनर्पित कुछ नहीं खाता, वैसे ही वह नितान्त आवश्यकता से अधिक नहीं सोता। सनातन गोस्वामी तथा रूप गोस्वामी जैसे महान भक्तों के जीवन में हम देखते हैं कि वे एक दिन में डेढ़ घंटे से अधिक नहीं सोते थे, एवं वे इसको स्वीकार करने को भी अनिच्छुक थे। इसलिए शयन भी सीमित है। स्वाभाविक है कि भगवान् की भक्तिमय सेवा में संलग्न व्यक्ति को सोने हेतु बहुत कम समय रहता है। निद्रा शरीर की आवश्यकता है, आत्मा की नहीं, एवं इसलिए जैसे जैसे व्यक्ति भक्तिमय सेवा में उन्नति करता है वैसे वैसे उसकी सोने की प्रवणता घटती जाती है।

इसी प्रकार, भक्त अपनी प्रतिरक्षा की प्रवणता को कम कर देता है। शुद्ध भक्त जानता है कि वह सर्वशक्तिमान परमेश्वर के आश्रय में है, अतः वह अपनी प्रतिरक्षा के संबंध में अधिक उत्सुक नहीं होता। यद्यपि प्रतिरक्षा के विषय में उसे अपने सामान्य ज्ञान का प्रयोग करना चाहिए, तथापि वह निश्चिंत होता है कि भले ही वह प्रतिरक्षा की कला में कितना ही निपुण क्यों न हो, भगवान् कृष्ण द्वारा रक्षित हुए बिना कोई अपनी रक्षा नहीं कर सकता।

इसी प्रकार, भक्त मैथुन को भी कम या समाप्त कर देता है। वह असंयमित यौन में लगकर कुत्ते-बिल्लियों की तरह संतानोत्पत्ति नहीं करता। यदि वह

संतानोत्पत्ति करता भी है, तो वह उनका दायित्व लेकर उन्हें कृष्णभावनामृत में प्रगति कराता है जिससे उन्हें, भावी जीवनों में, भौतिक जीवन में पीड़ित न होना पड़े। यही भक्त का कर्तव्य है।

इस भौतिक जगत में, सामान्य लोग इंद्रियतृप्ति की गतिविधियों में संलग्न होते हैं, जो उन्हें प्रकृति के भौतिक गुणों के नियमों में बाँधे रखती हैं। वास्तव में व्यक्ति जितना अधिक ऐसी गतिविधियों में लगे, उतना ही अधिक वह भौतिक अस्तित्व में अपने जीवन का विस्तार करता है। भक्त की गतिविधि भिन्न होती है : वह जानता है कि वह शरीर नहीं है एवं जब तक वह अपने शरीर में है तब तक उसे त्रिविध भौतिक क्लेशों से पीड़ित होना होगा। अतः अपने भौतिक बंधन को कम करने तथा आध्यात्मिक जीवन में अपनी प्रगति के लिए वह सदा अपनी सामाजिक और राजनीतिक गतिविधियों एवं आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन को कम कर देता है।

अध्याय २

भक्ति की परिभाषा

सूत्र १५

तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात्॥ १५॥

तत्—उसका (भक्तिमय सेवा का); **लक्षणानि**—लक्षणों; **वाच्यन्ते**—वर्णन है; **नाना**—विभिन्न; **मत**—मत; **भेदात्**—भेदों के अनुसार।

अनुवाद

अब विभिन्न प्रामाणिक मतों के अनुसार भक्तिमय सेवा के लक्षणों का वर्णन किया जायेगा।

तात्पर्य

श्रीमद्भागवतम् (७.५.२३) में, प्रह्लाद महाराज स्पष्ट बताते हैं कि भक्तिमय सेवा की आवश्यक क्रियाएँ क्या हैं :

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्यं साख्यमात्मनिवेदनम्॥

"भक्तिमय सेवा के अंतर्गत हैं—(१) भगवान् के बारे में श्रवण, (२) उनके यश का कीर्तन, (३) उनका स्मरण, (४) उनके चरणकमलों का ध्यान एवं सेवन, (५) उनका पूजन, (६) उनसे प्रार्थना, (७) स्वयं को उनका नित्य दास मानना, (८) उनका सखा बनना एवं (९) उनको सर्वस्व समर्पित कर देना।

जिस प्रकार बाज़ार से खरीद कर लाया गया पशु अपने आप को अपने स्वामी को समर्पण कर देता है, उसी प्रकार हमें भी अपने आपको भगवान् को समर्पण कर देना चाहिए। ऐसा पशु कभी अपने भरण-पोषण की चिंता नहीं करता क्योंकि वह जानता है कि उसका स्वामी उसकी देखभाल करेगा। इसी तरह भगवान् के प्रति

सहित होती है। वास्तविक पूजा मन, इंद्रियों तथा समस्त शारीरिक अंगों से होती है। अतः पूजन का अर्थ सीमित नहीं है; व्यक्ति की सभी ऐंद्रिक एवं मानसिक क्रियाओं का भगवद्-सेवा में नियुक्ति इसके अंतर्गत है। जैसा भगवान् कृष्ण कहते हैं,

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

"मैं सब आध्यात्मिक एवं भौतिक लोकों का स्रोत हूँ। हर वस्तु मुझसे उद्भूत है। जो बुद्धिमान लोग यह अच्छी तरह जानते हैं वे मेरी भक्तिमय सेवा में नियुक्त होते हैं तथा अपने पूर्ण हृदयों से मेरा भजन करते हैं।" (*भगवद्गीता* १०.८)। भगवान् कृष्ण महात्माओं का वर्णन "भक्ति से सदा मुझे भजने वाली महान आत्माएँ" कहकर करते हैं (*भ.गी.* ९.१४)।

आराधना के अंतर्गत कई क्रियाएँ हो सकती हैं, किन्तु *'पूजा'* शब्द विशेष रूप से मंदिर में अर्चा-विग्रह की आराधना है। यद्यपि भगवान् चैतन्य महाप्रभु स्वयं श्रीकृष्ण थे, तथापि वे पुरी के मंदिर में भगवान् जगन्नाथ की पूजा करते थे। चैतन्य महाप्रभु प्रत्येक दिन विग्रह का दर्शन करने जाते थे एवं महान दिव्य आनंद का अनुभव करते थे। जब रथयात्रा से पूर्व, 'अनावसर' के समय भगवान् जगन्नाथ मन्दिर से अनुपस्थित होते थे तो चैतन्य महाप्रभु को उनकी अनुपस्थिति की तीव्र पीड़ा का अनुभव होता था तथा वे एकान्तवास में *अलालनाथ* चले जाते थे।

अतः विग्रह-पूजा केवल नवदीक्षितों के लिए नहीं है, न वह निर्विशेष ध्यान का साधनमात्र ही है। यह भक्तिमय सेवा का आवश्यक अंग है। यद्यपि इस युग में पवित्र भगवन्नामों का जप भक्तिमय सेवा की अग्रणीय पद्धति है, तथापि भक्त को कलियुग में दूषण की प्रबल प्रवणताओं के प्रतिकरण हेतु अर्चा-विग्रह की पूजा भी करनी चाहिए। यह श्रील जीव गोस्वामी का मत है।

व्यासदेव की *श्रीमद्भागवतम्* को पढ़ने से हम जानते हैं कि उनकी समझ में भगवद्-भजन अर्चा-विग्रह के मंदिर-अर्चन तक सीमित नहीं। *श्रीमद्भागवतम्* के सातवें स्कंध में प्रह्लाद महाराज भक्तिमय सेवा की नौ पद्धतियों का वर्णन करते हैं। श्रील व्यासदेव—और श्रील प्रभुपाद—अनेक बार प्रथम दो तत्त्वों, भगवान् के यश के श्रवण एवं कीर्तन, पर वर्तमान युग के लिए विशेषरूप से, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बता कर बल देते थे। किन्तु भक्ति की नौ पद्धतियों में से किसी का भी प्रतिपादन करने से व्यक्ति को भगवद्-भजन के प्रति अनुराग प्राप्त हो सकता है।

सूत्र १७

कथादिष्विति गर्गः ॥१७॥

कथा-आदिषु—कथा आदि हेतु; **इति**—यह; **गर्गः**—गर्ग मुनि।

अनुवाद

गर्ग मुनि कहते हैं कि भक्ति भगवान् के संबंध में अथवा भगवान् द्वारा कथित कथाओं आदि में अनुराग है।

तात्पर्य

जैसे गर्ग मुनि ने *कृष्ण-कथा* श्रवण की महत्ता सिखाई, उसी प्रकार श्रील प्रभुपाद ने भी *कृष्ण-कथा* पर बल दिया। एक प्रकार की कृष्ण-कथा स्वयं भगवान् के कमलमुख द्वारा उक्त वाणी होती है, जैसे *भगवद्गीता*। भगवान् चैतन्य महाप्रभु कहते थे कि हमें प्रत्येक मिलनेवाले से कृष्ण की वाणी (कृष्ण-उपदेश) दोहरानी चाहिए। एक अन्य प्रकार की कृष्ण-कथा कृष्ण के संबंध में उक्त वाणी है, जैसे *श्रीमद्भागवतम्* में शुकदेव गोस्वामी द्वारा महाराज परीक्षित के प्रति। शुकदेव सारे बारह स्कंधों में सर्वत्र भगवान् के विभिन्न अवतारों की अद्भुत लीलाओं के संबंध में चर्चा करते हैं। दसवें स्कंध में वे परम पुरुषोत्तम भगवान् के व्यक्तित्व के आदि रूप, भगवान् श्रीकृष्ण, की वृंदावन, मथुरा एवं द्वारका की लीलाओं का वर्णन करते हैं। यह सब *कृष्ण-कथा* है।

यह शुद्ध भक्तों का लक्षण है कि वे केवल दिव्य विषयों पर ही चर्चा करते हैं। भक्त मौन का अभ्यास समस्त भौतिक चर्चाओं के वर्जन से करता है, किन्तु कृष्ण-कथा कहने में वह सदैव प्रसन्न होता है। जैसे कृष्ण ने *भगवद्गीता* (१०.९) में कहा है :

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

"मेरे शुद्ध भक्तों के विचार मुझमें रहते हैं, उनके जीवन मेरी सेवा में पूर्णतया समर्पित रहते हैं, एवं वे एक दूसरे को उद्दीप्त करते हुए तथा मेरी कथाएँ कहते हुए महान तृप्ति तथा आनंद का अनुभव करते हैं।" भगवान् कृष्ण के अपने दसवें स्कंध के विवरणों के प्रारंभ से पूर्व, शुकदेव महाराज परीक्षित को बताते हैं :

निवृत्त-तर्षैर उपगीयमानाद्
भवौषधाच्छ्रोत्र- मनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोक-गुणानुवादात्
पुमान् विरज्येत विना 'पशुघ्नात्।।

"भौतिक कामनाओं से निवृत्त व्यक्तियों द्वारा कथित भगवान् के वर्णन बारम्बार जन्ममरणशील बद्धजीव हेतु उपयुक्त औषधि हैं, एवं वे मन तथा कान को प्रफुल्लित करते हैं। अतः कौन ऐसे भगवद्-गुणानुवाद को सुनना छोड़ेगा, सिवाय उसके जो कि कसाई हो अथवा स्वयं का ही हत्यारा हो?" (*भागवत*. १०.१.४)

नारद मुनि ने अपनी निजी कृष्णभावनामृत का श्रेय शुद्ध भक्तों (*भक्ति-वेदांतों*) को दिया जिनकी उन्होंने, पाँच वर्ष की आयु के समय, सेवा की थी एवं जिन्हें उन्होंने *कृष्ण-कथा* कहते हुए सुना था : "हे व्यासदेव, उस सत्संग में तथा उन महान वेदान्तियों की कृपा से, मैं उनको भगवान् कृष्ण की आकर्षक लीलाओं का वर्णन करते हुए सुन सका। एवं इस प्रकार सावधानीपूर्वक सुनते हुए, भगवान् की कथा का मेरा आस्वादन पग पग पर बढ़ता गया।" (*भागवत* १.५.२६)। अतः गर्गमुनि का मत—कि *भक्ति* कृष्ण-कृथा के प्रति अनुराग है—महाजनों द्वारा स्वीकृत एवं अभ्यासित है।

सूत्र १८

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥१८॥

आत्म—परमात्मा के संबंध में; **रति**—आनंद का; **अविरोधेन**—विना विरोध के; **इति**—यह; **शाण्डिल्य**—शाण्डिल्य।

अनुवाद

शाण्डिल्य कहते हैं कि भक्ति परमात्मा में आनंद लेने के मध्य समस्त अवरोधों के निष्कासन का फल है।

तात्पर्य

शाण्डिल्य *आत्म-रति*, "आत्मा में आनंद लेने" की बात कहते हैं। किन्तु "आत्मा में आनंद लेने" का अर्थ क्या है? *भक्ति*-विज्ञान के अनुसार, जो जीवात्मा को आनंदित करे वह परमात्मा की भक्तिमय सेवा ही है। श्रील प्रभुपाद

भक्तिरसामृतसिन्धु में (पृष्ठ २८८) टिप्पणी करते हैं, "भगवान् के यश का प्रवर्तन करने में संलग्न भक्तगण एवं आत्म-ज्ञानीगण अपने हृदयों में सदैव आनंदपरिपूर्ण भगवत्प्रेम धारण किए रहते हैं। अतः वे आनंदचंद्र की किरणों से लाभान्वित होते हैं तथा संतजन कहलाते हैं।" *ब्रह्म-भूत* अवस्था, अथवा अपना नित्य स्वभाव खोज निकालने का आनंद, आध्यात्मिक जीवन का प्रारंभ मात्र है। *मुक्ति* भी, यदि वह जन्म और मृत्यु से निर्विशेष मुक्ति हो, तो परम लक्ष्य नहीं है। *आदि पुराण* के अनुसार, "भगवन्नाम जप में सदैव संलग्न व्यक्ति एवं भक्तिमय सेवा में संलग्न होने से दिव्य आनंद का अनुभव कर रहे व्यक्ति को भक्ति की सुविधा प्रदान की जाती है और मात्र *मुक्ति* कदापि नहीं दी जाती।" वैदिक शास्त्रों में अनेक अन्य उदाहरण हैं जो प्रमाणित करते हैं कि भक्तिमय सेवा मुक्ति के अन्यान्य सब प्रकारों का अतिक्रमण कर देती है। *पद्म पुराण* के अंश, *दामोदराष्टक,* में एक भक्त प्रार्थना करता है :

वरं देव मोक्षं न मोक्षावधिं वा
न चान्यं वृणेऽहं वरेशाद पीह।
इदं ते वपुर्नाथ गोपाल-बालं
सदा मे मनस्याविरास्तां किमन्यैः।।

"हे भगवान् दामोदर, यद्यपि आप सर्व प्रकार के वरदानों को देने में समर्थ हैं, मैं निर्विशेष मुक्ति के वरदान हेतु आपकी प्रार्थना नहीं करता, न ही वैकुण्ठ में नित्य जीवनरूपी सर्वश्रेष्ठ मुक्ति हेतु, न ही किसी अन्य ऐसे वरदान हेतु प्रार्थना करता हूँ। हे प्रभु, मैं तो बस यही चाहता हूँ कि वृंदावन में बाल-गोपाल का आपका यह रूप सदा मेरे हृदय में प्रकाशित रहे, क्योंकि इसके सिवा किसी अन्य वरदान का मेरे लिए उपयोग ही क्या है?" (*दामोदराष्टक ४*)

कोई अध्यात्मवादी शुद्ध भक्तों से भक्तिमय सेवा की कीर्ति सुनने से पूर्व निर्विशेष अनुभव में *आत्म-रति* की चाह कर सकता है। उदाहरणस्वरूप, चतुष्कुमार एवं शुकदेव गोस्वामी सभी ब्रह्मज्ञानी थे—किंतु वे परम पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति कभी आपराधिक नहीं थे। जैसे ही कुमारों तथा शुकदेव का शुद्ध कृष्णभावनामृत से परिचय हुआ, उन्होंने तुरंत अपनी निर्विशेष धारणाएँ त्याग दीं एवं वे भगवान् की भक्तिमय सेवा करने को व्यग्र हो गए। किन्तु भक्तिमय सेवा का तिरस्कार करने वाले अड़ियल मायावादी भिन्न श्रेणी में हैं। भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने घोषणा की थी कि मायावादी भगवान् के प्रति घोर अपराधी हैं तथा उनका संग नहीं करना चाहिए।

मायावादी विष का एक विशिष्ट उदाहरण उनके द्वारा इस सूत्र के *आत्म-रति*

शब्द की व्यवस्था में है। मायावादी दावा करते हैं कि पूर्व दो सूत्रों में वर्णित *पूजा* एवं *कृष्ण-कथा* का तात्पर्य व्यक्ति को भगवान् के व्यक्तित्व से परे *आत्मा* तक पहुँचाना है। यह निर्विशेषवादी की भक्ति के प्रति समयोपयुक्त मानसिकता है। वह भगवान् का पूजन करेगा एवं उनकी लीला सुनेगा, परन्तु अंततः भगवान् के व्यक्तित्व को नकारने के उद्देश्य से। वह भ्रमवश सोचता है कि उसका ध्यान उसे इस अनुभव तक पहुँचाएगा कि वही सर्वव्यापी ब्रह्म है। "मैं ही सब कुछ हूँ।"

किन्तु यदि, जैसा कि मायावादी दावा करते हैं, "मैं भगवान् हूँ" जानना परमानंद है तो वह आनंद अभी तक क्यों खोया रहा? यदि वास्तव में मेरा परिचय सर्वव्यापी भगवान् से सब प्रकार से एक होना है, तो वह परिचय आवृत कैसे हो गया था? परम *आत्मा* को किस शक्ति ने आवृत कर दिया? सत्य यह है कि व्यक्तिगत आत्माएँ, क्षुद्र होने के कारण, *माया* द्वारा आवृत होने में समर्थ हैं, जबकि परमात्मा, भगवान्, कभी माया द्वारा आवृत या अपने *सच्चिदानंद* रूप से विलग नहीं होते। अतः जबकि व्यक्तिगत आत्मा कभी भगवान् नहीं बन सकती—क्योंकि वह कभी भगवान् थी ही नहीं—वह भगवान् के नित्य प्रेमी दास के रूप में अपनी स्वरूपभूत सिद्धि के प्रति प्रयत्नशील हो सकती है।

मायावादी वैदिक शास्त्रों के प्रत्यक्ष कथनों से सदैव पराजित होते हैं। *भगवद्गीता* के आरंभ में (२.१२), भगवान् कृष्ण यह स्पष्ट करते हैं कि वे एवं व्यक्तिगत आत्माएँ, दोनों नित्य से पृथक् तत्त्वों के रूप में रहते हैं। कुरूक्षेत्र की रणभूमि में, जहाँ दो बड़ी सेनाएँ युद्ध के लिए एकत्र हुई थीं, कृष्ण अर्जुन से कहते हैं,

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपा :।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

"वह समय कभी नहीं था जब मैं न था, न तुम, न ये सब राजा थे, और न ही भविष्य में कभी ऐसा होगा कि हम में से कोई नहीं रहेगा।" कृष्ण इस तथ्य को बाद में पुनः व्यक्त करते हैं (*भगवद्गीता* १५.७): *ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः*। "इस बद्ध जगत में रहने वाले जीव मेरे सनातन अंश हैं।" *ऋग् वेद* एवं *उपनिषदों* में कहा गया है कि व्यक्तिगत आत्मा एवं परमात्मा दोनों जीव के हृदय में रहते हैं, जैसे पेड़ पर बैठे दो पक्षी। परमात्मा, या "हृदय में स्थित भगवान्", की कृपा से, व्यक्तिगत आत्मा परम पुरुषोत्तम भगवान् की प्रेममयी सेवा के प्रति अपनी आनंदपूर्ण नित्य अवस्था का अनुभव कर सकती है। परम पुरुषोत्तम भगवान् की नित्य सेवा से रहित भक्ति की कपोलकल्पना आसुरी मनों का कार्य है। प्रामाणिक *भक्ति* के अस्तित्व हेतु, तीन पक्षों का होना सदैव अनिवार्य है : भगवान्, भक्त एवं भक्ति।

मायावादी लोग शास्त्रों के प्रत्यक्ष कथनों एवं महाजनों के शब्दों की उपेक्षा या उनका गलत अर्थ करते हैं। उनके अर्थों को यहाँ बताने की आवश्यकता नहीं, किन्तु उल्लेखनीय है कि मायावादी अक्सर भक्ति शास्त्रों के प्रति आकर्षित होते हैं क्योंकि उनको अपने निजी ध्यान के अनुभव अत्यधिक शुष्क प्रतीत होते हैं। अतः वे *भगवद्गीता*, *श्रीमद्भागवतम्*, एवं *नारद-भक्ति-सूत्र* को अपनाते हैं, किन्तु भक्ति के लक्ष्यों के विरोधी मन्तव्य से। भगवान् विष्णु एवं उनके अवतारों के रूपों को भौतिक बताने का प्रचार करके मायावादी भगवान् के प्रति घोर अपराध करते हैं। जैसा भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में कहा है (९.११-१२),

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥

"जब मैं मनुष्य रूप में अवतार लेता हूँ तो मूर्ख मुझे नकारते हैं। वे समस्त भूतों के मुझ महेश्वर के परम भाव को नहीं जानते। इस प्रकार विमोहित व्यक्ति आसुरी एवं नास्तिक मतों के प्रति आकर्षित होते हैं। उस विभ्रमित स्थिति में, मुक्ति पाने की उनकी आशाएँ, उनकी सकाम क्रियाएँ, तथा उनके ज्ञान का अनुशीलन—सब पराजित हो जाता है।"

हम यथार्थ *आत्म-रति* का अनुभव आनंद के आगार कृष्ण से हमारे नित्य प्रेममय संबंध के संदर्भ में ही कर सकते हैं। जब हम भौतिक इंद्रियों द्वारा आनंद की खोज करते हैं, तब भी हम अपरोक्ष रूप से *आत्म-रति* खोजते होते हैं। प्राणवान शरीर में आत्मा की उपस्थिति के ही कारण हम आँखों, जिह्वा या कानों से आनंद लेते हैं। अतः शारीरिक आनंद आत्मा के अस्तित्व पर निर्भर करता है। तदुपरांत, आत्मा का आनंद परमात्मा पर निर्भर है। एवं परमात्मा भगवान् के व्यक्तित्व के आदि रूप, श्रीकृष्ण का एक अंश है। अतः सब परिस्थितियों में हम कृष्ण के साथ आनंदपूर्ण संबंध का ही अन्वेषण कर रहे हैं। *आत्म-रति* का वास्तविक अर्थ परमात्मा कृष्ण की सेवा एवं प्रेम की संतुष्टि है।

सूत्र १९

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति॥१९॥

नारदः—नारद; **तु**—किन्तु; **तत्**—उनके लिए; **अर्पित**—अर्पित; **अखिल**—सब; **आचारता**—आचार; **तत्**—उनका; **विस्मरणे**—विस्मरण में; **परम**—परम; **व्याकुलता**—व्याकुलता; **इति**—यह।

अनुवाद

परन्तु नारद कहते हैं कि अपने सब कर्मों को भगवान् के अर्पण करना तथा उनके विस्मरण में परम व्याकुल होना ही भक्ति है।

तात्पर्य

पूर्व में नारद ने तीन ऋषियों के अनुसार भक्ति की तीन परिभाषाएँ दी थीं : (१) विभिन्न प्रकार के भगवद्-पूजन में अनुराग, (२) भगवान् के संबंध में अथवा भगवान् द्वारा कथित कथाओं आदि के श्रवण में अनुराग, (३) आत्म-रति के आनंदास्वादन में सभी बाधाओं का निष्कासन। अब नारद स्वयं अपना मत देते हैं, जो इन मतों का विरोध नहीं करता, अपितु उनकी परिणति है।

भगवान् के सभी रूपों में, श्रीकृष्ण आदि एवं परम आकर्षक हैं। इसी प्रकार, समस्त वैष्णवों में, वृंदावन में कृष्ण के शुद्ध भक्त श्रेष्ठतम हैं। भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने घोषणा की थी कि वृंदावन में गोपियों द्वारा प्रतिपादित कृष्ण-भजन से बढ़कर कोई पद्धति नहीं है। यहाँ नारद कहते हैं कि भगवान् को क्षणभर को भी भूलने में शुद्ध भक्त को परम व्याकुलता होती है—किन्तु गोपियों के लिए कृष्ण को भूलने का कभी प्रश्न ही नहीं था। वे उनके स्मरण में इतनी मग्न थीं कि वे अपनी घर-गृहस्थी के कर्तव्य का भी पालन नहीं कर पाती थीं। अपने घनिष्ठ प्रेम-प्रसंगों में, गोपियाँ कभी कभी कृष्ण पर कृतघ्नता का आरोप लगाती थीं, एवं कृष्ण को भूलने की इच्छा व्यक्त करती थीं। किन्तु वे ऐसा नहीं कर पाती थीं। यह गोपियों में मुख्य, श्रीमती राधारानी द्वारा, इस प्रकार व्यक्त है :

> हम कृष्ण के विषय में सब जानती हैं, एवं यह भी जानती हैं कि वे कितने कृतघ्न हैं। किन्तु समस्या तो यही है : उनके इतना निर्दयी एवं कठोर हृदयी होते हुए भी, उनकी चर्चा बंद करना हमारे लिए बहुत कठिन है। न केवल हम यह चर्चा बंद करने में असमर्थ हैं, अपितु महान ऋषिगण तथा संतजन भी उनकी चर्चा में प्रवृत्त होते हैं। हम वृंदावन की गोपियाँ इस साँवले युवक से और अधिक मित्रता नहीं करना चाहतीं, किन्तु हम नहीं जानतीं कि हम उसके स्मरण एवं उनकी क्रियाओं की चर्चा को कैसे छोड़ पायेंगीं।

अत्यधिक विनम्रतावश, भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने एक बार कहा था कि उनमें कृष्ण के प्रति बूँद भर प्रेम भी नहीं है। वे दावा करते थे कि यदि वे वास्तव में कृष्ण से प्रेम करते तो उनके बिना वे कैसे जी पाते? प्रेमविहीनता को प्रमाणित करने के स्थान पर, ऐसा भाव उसके ठीक विपरीत प्रमाणित करता है—कि चैतन्य महाप्रभु कृष्ण के प्रति परमश्रेष्ठ शुद्ध प्रेम से पूर्ण थे। यद्यपि चैतन्य महाप्रभु अथवा गोपियों के लिए कृष्ण को कभी भी भूल पाना संभव नहीं था, तथापि वे उनसे बिछुड़ने की पीड़ा का अनुभव करती थीं। अपने *शिक्षाष्टक* (७) में, चैतन्य महाप्रभु प्रार्थना करते हैं,

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत सर्वं गोविंद विरहेण मे।।

"हे गोविंद! आपके विरह में मुझे एक क्षण महायुगकी भाँति प्रतीत होता है। तीव्र वर्षा के समान मेरी आँखों से आँसू झर रहे हैं, तथा मुझे सारा जगत शून्य दिख रहा है।"

यहाँ नारद कहते हैं कि *भक्ति* का एक आवश्यक अंग अपने सब कर्मों को भगवान् की सेवा में समर्पित कर देना है। भौतिक जगत में पाए जाने वाले समर्पण से अलग, कृष्ण के प्रति यह समर्पण सर्वांगी है। चूँकि कृष्ण सृष्टि का सर्वस्व हैं, अतः शुद्ध भक्त प्रत्येक परिस्थिति में उनके साथ रह सकता है। और चूँकि भगवान् सर्व-आकर्षक हैं, अतः भक्त अपने प्रेमास्पद के प्रति अधिकाधिक आसक्त हो जाता है। जैसे कृष्ण *भगवद्गीता* (६.३०) में घोषणा करते हैं,

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।

"जो मुझे सर्वत्र देखता है तथा सबको मुझमें देखता है, मैं उसके लिए कभी अदृश्य नहीं होता, न ही वह मेरे लिए अदृश्य होता है।" भौतिकतावादियों को, जो इंद्रियतृप्ति में बहुविध रुचि रखते हैं, एक भक्त का प्रेम, उन्माद प्रतीत हो सकता है। किन्तु कृष्ण के प्रति प्रेम वास्तव में व्यक्ति को सत्य का स्पर्श कराता है, कि *कृष्ण ही सबकुछ हैं*।

कोई पूछ सकता है कि कृष्ण के विरह में भक्त की अत्यंत व्याकुलता का अनुभव क्या सूत्र १८ का विरोध करता है, जिसमें शाण्डिल्य ने भक्ति को आत्म-रति का आनंद बताया है? इसमें विरोधाभास नहीं है क्योंकि चैतन्य महाप्रभु एवं अन्य शुद्ध भक्तों द्वारा विरह की पीड़ा का अनुभव दिव्य आनंद का ही एक प्रकार है। *प्रेम* के स्तर पर स्थित व्यक्तियों द्वारा अनुभव किए जाने वाले आध्यात्मिक भावों के क्षेत्र में, दुख अथवा सुख दोनों ही परमपूर्ण एवं आह्लादकारी हैं। मनोधर्मी

चिंतक एवं कनिष्ठ भक्त यह नहीं जान सकते, किन्तु हम शास्त्रों से इसका विवरण सुन सकते हैं तथा आत्म-ज्ञानी संतों के जीवन में इसे देख सकते हैं।

भक्त के आत्म-समर्पण का अर्थ यह है कि वह अपनी प्रेममयी सेवा के बदले में कुछ नहीं मांगता। वह केवल कृष्ण की संतुष्टि चाहता है। निस्वार्थता का अर्थ अहंकार का पूर्ण विसर्जन नहीं है। पूरा आत्म-हनन असंभव है (शून्यवादियों की इच्छा के बावजूद), किन्तु मिथ्या अहंकार भक्तिमय सेवा से घुल जाता है एवं उसके स्थान पर सत्य अंहकार, अर्थात "मैं भगवान् का नित्य दास हूँ" आ जाता है। जीव का सच्चा स्व-अर्थ स्वार्थ से मुक्ति में निहित है, जैसा नारद यहाँ कहते हैं, "अपने सब कर्मों को भगवान् को अर्पित करना"। हम सब परम जीव, कृष्ण के नित्य अविच्छिन्न अंश हैं; अतः हम उनको संतुष्ट करके ही पूर्ण संतुष्टि का अनुभव कर सकते हैं। *कृष्णे तुष्टे जगत् तुष्टम्*: "जब कृष्ण तुष्ट हों, तो जगत् तुष्ट होता है।"

भक्तिमय सेवा में नवदीक्षित भक्त निस्वार्थता का अभ्यास प्रामाणिक गुरु के प्रति समर्पण द्वारा कर सकता है। भक्त को चाहिए कि वह अपना सर्वस्व गुरु की सेवा में अर्पण कर दे तथा अपने गुरु को सदा अपना शुभाकांक्षी माने। जो भक्त गुरु एवं भगवान् के प्रति ऐसी निस्वार्थ सेवा का अभ्यास करते हैं, वे बदले में कुछ नहीं चाहते, तथापि वे अंततः श्रेष्ठतम पुरस्कार पाते हैं—भगवान् का अंतरंग संग। जैसा कृष्ण कहते हैं,

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

"सदा मेरा स्मरण करो, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो, एवं मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार तुम निस्संदेह मेरे पास आओगे। मैं यह तुमसे प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तुम मेरे बहुत प्रिय सखा हो।" (*भ.गी.* १८.६५)

सूत्र २०

अस्त्येवमेवम्॥ २०॥

अस्ति—यह है; एवम् एवम्—इनमें से प्रत्येक के समान।

अनुवाद

वास्तव में, भक्ति, इनमें से प्रत्येक प्रकार में सत्यरूप में ही वर्णित है।

तात्पर्य

उपर्युक्त दी गई *भक्ति* की परिभाषाओं—श्रील व्यासदेव, गर्ग मुनि, शाण्डिल्य एवं नारद मुनि द्वारा—में विरोध नहीं है। जबकि नारद ने हमें अपनी निजी परिभाषा दी है, तथापि यहाँ वे कहते हैं कि अन्य परिभाषाएँ भी प्रामाणिक हैं। सभी आस्तिक धर्मों में कम से कम अंशरूप से उपस्थित *भक्ति* वास्तव में एक विश्वव्यापी सिद्धांत है। यथार्थ में, अनेक धर्मों में हम भगवत्प्रेम की ऐसी परिभाषा पा सकते हैं जो नारद मुनि एवं चैतन्य महाप्रभु के अनुयायियों द्वारा शिक्षित सिद्धांतों का विरोध नहीं करती।

नारद ने श्रेष्ठतम *भक्ति* की परिभाषा दी है। परन्तु क्या ऐसी पूर्णावस्था संभव है? उत्तर है 'हाँ'। जब तक भक्तगण समय समय पर शुद्ध *भक्ति* का प्रकाशन न करें, तब तक आध्यात्मिक पथ के उत्सुकों हेतु अनुकरणीय अथवा यत्न करने योग्य कुछ न होगा, एवं वे *परम-भक्ति* को एक काल्पनिक आदर्श मान बैठ सकते हैं। जैसा भगवान् चैतन्य महाप्रभु कहते हैं, *धर्म-स्थापना-हेतु साधुर व्यवहार*—"एक भक्त का व्यवहार धर्म के यथार्थ उद्देश्य की स्थापना हेतु होता है।" (*चैतन्य-चरितामृत. मध्य* १७.१८५)

एक बार सनातन गोस्वामी ने चैतन्य महाप्रभु के स्थान पर मुकुंद सरस्वती नामक संन्यासी के प्रति समर्पण का ढोंग किया। जब चैतन्य महाप्रभु के अंतरंग भक्त जगदानंद पंडित ने सनातन के व्यवहार को देखा, तो वे बड़े क्रोधित हुए तथा सनातन को पीटने की धमकी दी। सनातन ने तब अपना उद्देश्य उजागर किया : "मेरे प्रिय जगदानंद पंडित, आप एक अति विद्वान संत हैं। चैतन्य महाप्रभु को आपसे अधिक प्रिय कोई नहीं। चैतन्य महाप्रभु में यह श्रद्धा आपके सर्वथा उपयुक्त है। जबतक आप इसका मंचन नहीं करते, तब तक मैं ऐसी श्रद्धा को कैसे समझ पाता?" (*चैतन्य-चरितामृत अन्त्य* १३.५९)

श्री श्रीमद् अभयचरणारविंद भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद के जीवन में हमने पूर्ण आत्म-समर्पण तथा अपनी समस्त क्रियाओं के भगवदार्पण का उदाहरण देखा है। श्रील प्रभुपाद की पवित्रता उनका निजी मुद्दा नहीं थी : उन्होंने स्वयं को भरपूर दिया; एवं सहस्रों लोगों को कृष्णभावनामृत में लाने हेतु वे शक्त्यावेषित थे। अतः श्रील भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा प्रदत्त कसौटी पर वे पूर्णतः खरे उतरे कि एक वैष्णव का गुण यह देखकर बताया जा सकता है कि उसने कितने लोगों को वैष्णव बनने में आश्वस्त किया है। अपने व्यक्तिगत प्रचार द्वारा, अपने ग्रंथों द्वारा, एवं उनके द्वारा सृष्ट एवं पालित कृष्णभावनामृत आंदोलन द्वारा, श्रील प्रभुपाद ने एक ऐसे जीवन का दृष्टांत दिया जो कृष्ण की संतुष्टि के प्रति शुद्ध रूप से समर्पित था।

उनके कार्यों की शक्ति प्रवाहमान धरोहर है, एवं *भक्ति-योग* के पथ को ग्रहण करने में रुचि रखनेवाले किसी भी व्यक्ति हेतु सुलभ है। अतः भूत, वर्तमान एवं भविष्य में शुद्ध *भक्ति* के उदाहरण मिलने में हम आश्वस्त हैं।

यहाँ नारद कहते हैं कि उनके द्वारा उद्धृत प्रत्येक प्रामाणिक आचार्य ने अपने निजी ढंग से भक्ति का वर्णन किया है। किन्तु अगले सूत्र में नारद कहेंगे कि व्रज की गोपियाँ भक्ति का दृष्टांत हैं। सूत्र १६ से १९ तक में दी गई भक्ति की संक्षिप्त परिभाषाओं के मध्य, हम पातें हैं कि नारद की अपनी परिभाषा गोपियों पर सबसे उपयुक्त बैठती है : "अपने सब कर्मों को भगवान् के अर्पण करना तथा उनके विस्मरण में परम व्याकुल होना ही भक्ति है।"

सूत्र २१

यथा व्रजगोपिकानाम्॥ २१॥

यथा—जैसी; **व्रज**—व्रज की; **गोपिकानाम्**—गोपियों की है।

अनुवाद

व्रज की गोपिकाएँ शुद्ध भक्ति का एक उदाहरण हैं।

तात्पर्य

सूत्र १९ में, नारद ने भक्ति की परम परिभाषा दी थी। इससे उन्हें विवश होकर समस्त भक्तों में परमोच्च, व्रज-गोपिकाओं का वर्णन करना पड़ा है। नारद अन्य विख्यात भक्तों, जैसे उद्धव, अर्जुन, प्रह्लाद महाराज, अथवा माँ यशोदा, का वर्णन कर सकते थे, किन्तु उन्होंने केवल गोपियों का उदाहरण देने का ही चयन किया। नारद का मत सभी अनुभवी वैष्णवों द्वारा मान्य है, क्योंकि गोपियाँ भगवान् कृष्ण की सर्वश्रेष्ठ प्रेमिकाओं के रूप में प्रसिद्ध हैं। गोपियाँ सर्वोत्तम हैं क्योंकि उन्होंने अपने प्रेमास्पद हेतु सबकुछ दे दिया, सबकुछ त्याग दिया। जैसा श्रील कृष्णदास कविराज *चैतन्य-चरितामृत* (*आदि* ४.१६७-६९) में लिखते हैं,

> सामाजिक धर्म, शास्त्रोक्त निर्देश, शारीरिक माँगें, सकाम कर्म, लज्जा, धैर्य, शारीरिक सुख, वर्णाश्रम धर्म के मार्ग पर निज-तृप्ति, जिसे त्यागना कठिन है—गोपियों ने परिवारोंसहित इन सबको तिलांजली दे दी, एवं अपने स्वजनों का दण्ड एवं उलाहनों की व्यथा सही, सब भगवान् कृष्ण की सेवा

के लिए। वे उनके आनंद हेतु उनकी प्रेममयी सेवा करती हैं।

गोपियों का कृष्ण के साथ *माधुर्य-रस,* या दाम्पत्य प्रेम है। किन्तु अन्य रसों में भगवान् को भजने वाले भक्तगण भी *भक्ति* के राज्य में गोपियों के सर्वोत्तम स्थान को स्वीकार करते हैं। उदाहरणस्वरूप, नारद मुनि सामान्यतया भगवान् कृष्ण के वैकुण्ठ या द्वारका में ऐश्वर्य रूपों का संग करते हैं। भगवान् कृष्ण से अपने आदान-प्रदान में, नारद बहुधा भगवान् के अचिन्त्य ऐश्वर्य की प्रशंसा करते हैं। उदाहरणस्वरूप, जब एक बार नारद कृष्ण से मिलने उनके सोलह हज़ार महलों में से कईयों में गए थे, तो वे यह देखकर आश्चर्यचकित थे कि कैसे भगवान् ने अपना यूँ विस्तार कर लिया था कि वे अपनी प्रत्येक रानी के साथ एकान्त में रह सकते थे। "आपकी दिव्य स्थिति सदैव सबके लिए अचिन्त्य होती है," नारद ने कहा। "जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं तो बस आपको बारम्बार मेरा श्रद्धापूर्ण प्रणाम ही कर सकता हूँ।" (कृष्ण पृ. ६०३) चूँकि नारद भगवान् के विद्वान एवं अंतरंग भक्तों में से एक हैं, अतः वे इससे अवगत हैं कि गोपियाँ कृष्ण-प्रेम के सर्वोच्च भाव का दृष्टांत हैं। इसीप्रकार, शुकदेव गोस्वामी, भीष्मदेव और व्यासदेव जैसे भक्त गोपियों की उच्चावस्था को सराहते हैं।

यहाँ तक कि निर्विशेषवादी भी गोपियों के साथ कृष्ण के प्रेम प्रसंगों के प्रति आकर्षित होते हैं, यद्यपि वे उन्हें समझ नहीं पाते। वृंदावन की गोपियों की प्रशंसा का प्रयास करते हुए, एक निर्विशेषवादी "स्वामी" कहता है, "गोपी-लीला प्रेम धर्म की परिणति है, जिसमें पृथक् व्यक्तित्व विलीन हो जाता है एवं समागम हो जाता है।" किन्तु यह तथ्य नहीं है कि "व्यक्तित्व विलीन" हो जाता हो, न तो गोपियों के लिए और न ही किसी अन्य जीव के लिए। जैसा हमने ऊपर निर्देश किया है, भगवान् कृष्ण स्पष्टतः एवं बारम्बार कहते हैं कि उनका एवं जीवों, दोनों का, पृथक् व्यक्तित्व नित्य रहता है। किन्तु, गोपियों का अपना स्वार्थ पूर्णतः विलीन हो गया था—उनका स्वार्थ कृष्ण के स्वार्थ से पूरी तरह एक हो गया था।

गोपियों के कृष्ण के साथ रासनृत्य को केवल निर्विशेष ब्रह्मैक्य तक पहुँचने की एक अवस्था मानना गोपियों एवं गोपी-लीला का घोर अपमान है, भले ही इस में प्रशंसा करने का मंतव्य हो, तो भी। जब वे वृंदावन के चंद्रालोकित वन में कृष्ण के समक्ष आई थीं तो वे निश्चित रूप से कृष्ण के द्वारा ज्ञान-योग के माध्यम से "ब्रह्मैक्य" की शिक्षा पाना नहीं चाहती थीं, और न ही वे रास-नृत्य को उस प्रकार देखती थीं। कुरूक्षेत्र में कृष्ण से मिली श्रीमती राधारानी के भाव में बोलते हुए, चैतन्य महाप्रभु ने एकबार कृष्ण द्वारा गोपियों को योग तथा ध्यान सिखाने के प्रयास

के संबंध में कृष्ण को उलाहना दिया था :

मेरे प्रिय कृष्ण, पूर्व में जब तुम मथुरा में रहते थे, तुमने मुझे योग तथा ज्ञान सिखाने हेतु उद्धव को भेजा था। अब तुम स्वयं वही बात कह रहे हो, किन्तु मेरा मन इसे स्वीकार नहीं करता। मेरे मन में ज्ञान-योग अथवा ध्यान-योग के लिए कोई स्थान नहीं है। यद्यपि तुम मुझे भलीभाँति जानते हो, तथापि तुम मुझे ज्ञान-योग तथा ध्यान-योग का निर्देश दे रहे हो। ऐसा करना तुम्हारे लिए ठीक नहीं। मैं अपनी चेतना को तुमसे दूर ले जाकर भौतिक क्रियाओं में लगाना चाहूँगी, किन्तु मेरे प्रयास करने पर भी, मैं ऐसा नहीं कर सकती। मैं स्वाभाविक रूप से केवल तुम्हीं से आकर्षित हूँ। अतः तुमपर ध्यान लगाने के तुम्हारे निर्देश नितान्त हास्यास्पद हैं.... मुझे अपने निदेशों का पात्र समझना तुम्हारे लिए अधिक अच्छा नहीं। (*चैतन्य-चरितामृत मध्य* १३.१३९-४०)

सूत्र २२

तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः ॥ २२ ॥

तत्र—उस संदर्भ में; **अपि**—भी; **न**—नहीं है; **माहात्म्य**—माहात्म्य; **ज्ञान**—ज्ञान; **विस्मृति**—विस्मृति; **अपवादः**—निंदा।

अनुवाद

गोपियों के संदर्भ में भी, भगवान् का माहात्म्य भूलने हेतु उनकी आलोचना नहीं की जा सकती।

तात्पर्य

नारद संभावित आलोचना का उत्तर दे रहे हैं; यद्यपि सभी वैष्णव गोपियों की प्रशंसा करते हैं, एवं यद्यपि इस महिमा-गायन में निर्विशेषवादी भी शामिल हो जाते हैं, तथापि कुछ दार्शनिक सोचते हैं कि गोपियों का प्रेम सूझबूझ से रहित है। चूँकि गोपियाँ एक सुंदर किशोर-रूपी कृष्ण के प्रति आकर्षित हुई थीं, तथा चूँकि वे अर्ध रात्रि में अपने घरों से भाग कर उनके साथ चंद्रालोकित वृंदावन के वन में नृत्य करने गई थीं, मूर्ख आलोचक सोचते हैं कि गोपियों को पता नहीं था कि कृष्ण परम पुरुषोत्तम भगवान् हैं।

नारद कहते हैं कि गोपियों के प्रति यह आरोप असत्य है। गोपियाँ जानती थीं कि श्रीकृष्ण परम पुरुष हैं, किन्तु उनके साथ अपने अंतरंग रस में उन्होंने भगवान् को सामान्यतः अर्पित किये जाने वाले भय और आदर को एक ओर रख छोड़ा था। भगवान् की अंतरंगा शक्ति, योगमाया, भगवान् के प्रभुत्व को धूमिल करने हेतु प्रेममयी अंतरंगता छा जाने देती है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि गोपियों जैसे शुद्ध भक्तगण आध्यात्मिक उन्नति से विहीन होते हैं। कृष्ण द्वारा अपने साथ आध्यात्मिक जगत से लाई गई गोपियों को छोड़कर, शेष सभी गोपियाँ जन्म-जन्मांतर के तप एवं आध्यात्मानुशीलन के पश्चात् ही *माधुर्य-रस* की अपनी स्थिति पर पहुँची थीं। कृष्ण के साथ खेलने वाले गोपों के विषय में *श्रीमद्भागवतम्* कहती है कि उन्हें यह स्थिति अनेक अनेक जन्मों के "पुण्य कर्मों का ढेरों संग्रह करने पर ही" प्राप्त हुई थी। अतः यद्यपि कभी कभी ऐसा प्रतीत हो सकता है कि मुक्त भक्तगण यह भूल गए हैं कि कृष्ण भगवान् हैं, वास्तव में यह योगमाया का आयोजन है जिससे भगवान् एवं उनके भक्तों का आनंदवर्धन हो सके।

उदाहरणस्वरूप, जब वसुदेव अपने बालकृष्ण को यमुना नदी के पार ले जा रहे थे तो बालक नदी में गिर पड़ा। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "केवल वसुदेव के घोर प्रेम की परीक्षा हेतु, भगवान् कृष्ण यमुनाजल में गिर पड़े जब वे नदी पार कर रहे थे। वसुदेव अपने बालक के लिए, उसे उफनती नदी के बीच से निकालते समय, पगला-से गए।" (*भागवत* ३.२.१७, तात्पर्य)। भगवान् कृष्ण वसुदेव को यह नहीं सोचने देना चाहते थे कि, "अरे, कृष्ण स्वयं को बचा लेगा; वह भगवान् है," अपितु वे वात्सल्य रस का पूर्ण उद्दीपन करना चाहते थे। इसी प्रकार, माँ यशोदा कभी-कभी बाल कृष्ण के लिए, उसे दण्ड देकर, मातृप्रेम का प्रदर्शन करती थीं। और जब उनकी माँ उन्हें दण्ड देने आती थीं तो कृष्ण भय से भागकर इसका प्रतिकार करते थे। श्रील प्रभुपाद इस विरोधाभास की व्याख्या इस प्रकार करते हैं :

> भगवान् का शुद्ध भक्त केवल विशुद्ध प्रेम के कारण ही भगवान् की सेवा करता है, एवं ऐसी भक्तिमय सेवा का सम्पादन करता हुआ शुद्ध भक्त भगवान् की स्थिति भूल जाता है। भगवान् भी अपने भक्तों की प्रेममयी सेवा को तब और भी अधिक आस्वादनसहित स्वीकार करते हैं जब वह सेवा शुद्ध स्नेह के स्वतः स्फूर्त भाव से तथा किसी श्रद्धायुक्त आदरभावरहित होकर की जाती है.... यदि माँ यशोदा भगवान् की उच्चावस्था जानती होतीं, तो वे उन्हें दण्ड देने में अवश्य झिझकतीं। किन्तु उन्हें यह भुला दिया गया था, क्योंकि भगवान् स्नेहमयी यशोदा के आगे बालपने की पूर्ण अभिव्यक्ति करना चाहते थे.. माँ यशोदा की अद्वितीय प्रेमावस्था हेतु उनकी प्रशंसा होती

है, क्योंकि वे सर्व-शक्तिमान भगवान् को भी अपने प्रिय बालक के रूप में नियंत्रित कर सकती थीं। (*भागवत* १.८.३१, तात्पर्य)

एक और स्पष्ट उदाहरण कृष्ण का सखा अर्जुन है, जिसने अपने रथ के सारथी के रूप में अच्युत भगवान् को स्वीकार किया था।

जहाँ तक व्रजगोपियों का प्रश्न है, वे अनेक बार कृष्ण की दिव्यता के गहन ज्ञान को अभिव्यक्त करती थीं। किन्तु विद्वान् पंडित अथवा ध्यानी बनने हेतु उन्होंने कभी अपने माधुर्य प्रेम को कम नहीं किया। कृष्ण ब्रह्माण्ड की सबसे सुन्दर कन्याओं के साथ नृत्य करना चाहते थे, एवं इसलिए उनकी पूर्ण-समर्पित सेविकाओं, गोपियों, ने प्रसन्नता पूर्वक समर्थन किया। जब कृष्ण ने आधी रात में गोपियों को अपने पास बुलाया, तो उन्होंने उन्हें सर्वप्रथम सद्धर्मोपदेश दिया। गोपियों ने उनके इस बर्ताव की आलोचना की, पर फिर भी उनके कथनों से पता चलता था कि वे भलीभाँति जानती थीं कि कृष्ण कौन हैं। गोपियों ने कृष्ण से कहा,

> इस त्रिलोकी जगत् में, तुम्हारे संबंध में पुरुष या स्त्री का कोई भेद नहीं है क्योंकि स्त्रीपुरुष दोनों ही तुम्हारी तटस्था शक्ति, अथवा *प्रकृति,* के अन्तर्गत आते हैं। वास्तव में कोई भी भोक्ता अथवा पुरुष नहीं; हर कोई तुम्हारे द्वारा भोग्य है। इस त्रिलोकी जगत् में ऐसी कोई स्त्री नहीं जो तुमसे आकर्षित होने पर अपने सतीत्व-पथ से टल न जाये क्योंकि तुम्हारा सौन्दर्य ऐसा दिव्य है कि न केवल स्त्री पुरुष, अपितु गाएँ, पक्षीगण, पशु, यहाँ तक कि वृक्ष तथा फलफूल—हर कोई—मदोन्मत्त हो जाते हैं, एवं हमारा तो कहना ही क्या?

वृंदावन छोड़ने के पश्चात्, उन्होंने गोपियों को संदेश देने हेतु उद्धव को भेजा था। जब उद्धव ने गोपियों की श्रीकृष्ण के प्रति अप्रतिहता भक्ति देखी, तो उन्होंने उनकी दिव्य पूर्णता की प्रशंसा की :

> मेरी प्रिय गोपियों, कृष्ण के संबंध में तुमने जो मानसिकता विकसित की है, वह महान ऋषियों एवं संतजनों के लिए भी दुष्प्राप्य है। तुमने जीवन की उच्चतम सिद्धावस्था को प्राप्त कर लिया है। यह तुम्हारे लिए एक महान वरदान है कि तुमने कृष्ण पर अपने मनों को स्थिर कर लिया है एवं परमपुरुष के लिए अपने परिवार, घरबार, स्वजनों, पतियों तथा बच्चों को छोड़कर केवल कृष्ण को ही ग्रहण करने का निर्णय लिया है। चूँकि तुम्हारे मन अब परमात्मा कृष्ण में पूर्णतः डूब चुके हैं, अतः विश्वव्यापी प्रेम स्वतः ही तुम में विकसित हो गया है। मैं स्वयं को बहुत सौभाग्यशाली मानता हूँ

कि तुम्हारी कृपा से मुझे इस स्थिति में तुम्हारा दर्शन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। (कृष्ण : पृष्ठ ३८० अं.)

जब उद्धव या कृष्ण उनसे दार्शनिक बातें करते थे तो गोपियाँ सदैव व्यग्र हो जाती थीं, क्योंकि वे तो बस वृंदावन भाव में कृष्ण के साथ एकांत में ही रहना चाहती थीं। अतः जब उद्धव ने उनकी प्रशंसा की, तो उन्हें यह अधिक रुचिकर नहीं लगा। कभी-कभी वे कृष्ण के बर्ताव की भी निंदा करती थीं, और तथापि वे उनकी परम एवं स्वतंत्र स्थिति से अवगत रहती थीं। जैसा कि एक गोपी ने कहा, "कृष्ण परम पुरुषोत्तम भगवान् हैं, भाग्यलक्ष्मी के स्वामी हैं, और वे आत्माराम हैं। उनका हम वृंदावनवासिनी कन्याओं से अथवा मथुरानगर वासिनी कन्याओं से कोई प्रयोजन नहीं। वे महान परमात्मा हैं; उनका, यहाँ या वहाँ, हम में से किसी के साथ कोई प्रयोजन नहीं।" (कृष्ण : पृ. ३८६ अं.)

सामान्य लोकाचार के अनुसार गोपियों को जाँचना अपराध है। कृष्ण द्वारा उन्हें प्रदान की गई अंतरंगता अचिन्त्य है, तथा उसे भौतिक इच्छारहित व्यक्तियों के सिवा कोई नहीं समझ सकता। गोपियों का प्रेम अवश्य ही भय एवं आदर से परे है, तथा फिर भी वह भौतिक कदापि नहीं है।

निर्विशेषवादी कभी कभी गोपियों की प्रशंसा के प्रयास की छलांग लगाता है। वह कहता है कि गोपियों को सांसारिक कामवासना से दूषित व्यक्तियों द्वारा समझा नहीं जा सकता, जबकि वह स्वयं इससे भी घोरतम अपराध करता है : वह सोचता है कि गोपियों के साथ कृष्ण के प्रसंग "गहन आध्यात्मिक तथ्यों से भरपूर अलंकार" हैं। मायावादी द्वारा गोपी-भाव की प्रशंसा के पीछे आत्म-हनन करने अर्थात भगवान् से एक होने की इच्छा होती है। अन्य शब्दों में, मायावादी सोचता है कि सिद्धि के अंतिम पड़ाव पर, गोपी यह अनुभव करेगी कि उसका प्रेमास्पद कृष्ण वह स्वयं है। हमने ऐसे दावों की मूर्खता का पहले ही निर्देश किया है, किन्तु हम इसे पुनः कर रहे हैं जिससे मायावादी की तथाकथित कृष्ण-लीला प्रशंसा का पर्दाफाश हो सके।

इसके विपरीत, नारदमुनि द्वारा गोपियों की कृष्ण-भक्ति की प्रशंसा सारे शास्त्रों तथा ऋषियों द्वारा समर्थित है।

सूत्र २३

तद्विहीनं जाराणामिव ।। २३ ।।

तत्—उसका (भगवान् के महात्म्य के ज्ञान का); **विहीनं**—विहीन; **जाराणाम्**—अवैध प्रेमियों के; **इव**—समान।

अनुवाद

दूसरी ओर, भगवान् के माहात्म्य-ज्ञान से विहीन भक्ति अवैध प्रेमियों के प्रसंगों के समान है।

तात्पर्य

कृष्ण के साथ गोपियों के प्रेममय आदान-प्रदान का भौतिक रजोगुण से कोई संबंध नहीं है, किन्तु चूँकि वह भौतिक जगत की कामी क्रियाओं के सदृश होता है, अशुद्ध मन वाले लोग उसे भ्रमवश वही समझते हैं। श्रील प्रभुपाद इसीलिए भगवान् कृष्ण की *रास-लीला* की चर्चा में सदैव बहुत सावधान रहते थे। चैतन्य महाप्रभु भी इन विषयों की चर्चा में सावधानी बरतते थे। यद्यपि वे सदैव *गोपी-भाव* में मग्न रहते थे, तथापि वे गोपियों के साथ कृष्ण के प्रेम-प्रसंगों की चर्चा केवल कुछ अंतरंग शिष्यों के साथ ही करते थे। जन-समुदाय के लिए, पवित्र नाम संकीर्तन के प्रवर्तन द्वारा ही वे भगवत्प्रेम का वितरण करते थे।

श्रील प्रभुपाद कभी-कभी, यह दिखाने के लिए कि अधिकतर लोग कैसे राधा-कृष्ण के दिव्य प्रेम-प्रसंगों को भ्रमवश साधारण युवक-युवती के भौतिक प्रसंग समझ बैठते हैं, एक कथा सुनाया करते थे। एक बार एक गोशाला में आग लगी, एवं एक गाय तो मानो डर से मर ही गई। तत्पश्चात्, जब भी वह गाय लाल रंग देखती, उसे लगता कि आग जल रही है तथा वह बेहद डर जाती। इसी प्रकार, कोई साधारण स्त्री-पुरुष जब राधा-कृष्ण का चित्र देखते हैं, तो वे तुरंत सोचते हैं कि उनका (राधा कृष्ण का) संबंध साधारण प्रेम-प्रेमिका अथवा पति-पत्नी जैसा है। दुर्भाग्यवश, *भागवतम्* के व्यवसायिक प्रवचनकर्ता, दसवें स्कंध में वर्णित भगवान् कृष्ण के युगल प्रसंगों में कूद कर, इस भ्रम को बढ़ावा देते हैं, जबकि न तो वे स्वयं और न ही उनके श्रोता उनको सुनने के अधिकारी होते हैं। *भागवतम्* का अधिकृत पठन-क्रम पहले सावधानीपूर्वक प्रथम नौ स्कंधों को पढ़ना है, जिनमें भगवान् की महानता, उनके विश्वरूप, उनकी भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों, उनकी ब्रह्माण्ड सृष्टि, उनके अवतारों, इत्यादि की स्थापना की गई है। प्रथम दो स्कंधों को पढ़ना मानो भगवान् के चरणकमलों का ध्यान है, और जैसे जैसे व्यक्ति क्रमशः प्रगति करता चले, वैसे वैसे वह भगवान् के विभिन्न शारीरिक अंगों का दर्शन करता है, जबतक कि वह अंततः दसवें स्कंध के गोपी-लीला वर्णन में भगवान्

का मुस्कुराता हुआ मुखमण्डल न देख ले।

यदि गोपियों के साथ कृष्ण की लीलाएँ कामवासना के व्यापार होते, तो न तो नारद एवं शुकदेव सदृश शुद्ध ब्रह्मचारीगण और न ही उद्धव तथा व्यासदेव जैसे मुक्त मुनिगण उनकी इतनी अधिक प्रशंसा करते। ऐसे महान भक्तगण समस्त भौतिक वासनाओं से मुक्त हैं, अतः यदि राधा-कृष्ण का परस्पर प्रेम कोई सांसारिक वासना होता, तो वे राधा-कृष्ण में क्योंकर रुचि लेते?

श्रीमद्भागवतम् से हमें ज्ञात होता है कि सारी गोपियों के देह आध्यात्मिक थे। यह एक और प्रमाण है कि गोपियों के साथ कृष्ण की लीलाएँ परालौकिक थीं। जब वृंदावन में शरद ऋतु की पूर्णिमा की रात्रि में कृष्ण ने अपनी बाँसुरी बजाई, तो गोपियाँ अपनी आध्यात्मिक देहों में उनसे मिलने गईं। इनमें से कई गोपियाँ कृष्ण की नित्य संगिनी हैं, तथा जब कृष्ण भौतिक जगत में अपनी दिव्य लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं तो वे उनके साथ आती हैं। किन्तु भौतिक जगत में कृष्ण की लीलाओं में साथ देनी वाली कुछ गोपियाँ साधारण मनुष्यों के स्तर से आई थीं। कृष्ण को सदैव अपने प्रेमास्पद के रूप में सोचकर, वे समस्त भौतिक दूषण से शुद्ध हो गईं एवं नित्यमुक्त गोपियों के समान हो गईं। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "परकीया प्रेम के भाव में अपने मनों को कृष्ण में एकाग्र करने वाली समस्त गोपियाँ भौतिक प्रकृति के सारे सकाम कर्मफलों से पूर्णतः शुद्ध हो गई, एवं उनमें से कुछ ने भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के अन्तर्गत बनी भौतिक देहों का तुरंत परित्याग कर दिया।" (कृष्ण : पृ. २४२ अं.) श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर *श्रीमद्भागवतम्* पर अपनी टीका में वर्णन करते हैं कि यहाँ "भौतिक देहों का परित्याग" का तात्पर्य मृत्यु नहीं, अपितु समस्त भौतिक दूषण से शुद्धि एवं विशुद्ध आध्यात्मिक देह की प्राप्ति है।

जब शुकदेव गोस्वामी ने कृष्ण की रास-लीलाओं का प्रवचन आरंभ किया, तो महाराज परीक्षित ने इस *सूत्र* में लक्षित संदेह के समान एक संदेह उजागर किया। उन्होंने पूछा, "परपुरुष का स्मरण करके गोपियों को मुक्ति कैसे मिली?" शुकदेव ने उत्तर दिया कि यद्यपि कोई यह सोचे कि गोपियाँ काम-वासना से प्रेरित थीं, कृष्ण के साथ किसी भी प्रकार का संग व्यक्ति को समस्त भौतिक इच्छाओं से शुद्ध कर देता है। चूँकि वे परम पुरुषोत्तम भगवान् हैं, अतः शिशुपाल ने, जो द्वेष भाव से कृष्ण के स्मरण में मग्न रहता था, भी मुक्ति प्राप्त की। जैसा श्रील प्रभुपाद बताते हैं, (कृष्ण पृ. २४५ अं.)

उपसंहार यह है कि यदि कोई येनकेनप्रकारेण कृष्ण में उनके सौन्दर्य, गुण, ऐश्वर्य, यश, वल, त्याग, ज्ञान या कामवासना, क्रोध, भय, अथवा

स्नेह या मैत्री के कारण, आसक्त हो या उनके प्रति आकर्षित हो, तो मोक्ष एवं भौतिक दूषण से उसकी मुक्ति सुनिश्चित है।

वेश्या कुब्जा इसका उदाहरण है कि कृष्ण के प्रति कामवासनापूर्ण आकर्षण भी व्यक्ति को भौतिक दूषण से मुक्त कर सकता है। वह कामवासनावश कृष्ण के पास गई, किन्तु कृष्ण के चरणकमलों की सुगंध सूँघने मात्र से उसकी कामवासना निवृत्त हो गई।

यद्यपि कृष्ण के प्रति गोपियों का भाव व्यक्त करने हेतु *काम* शब्द का प्रयोग होता है, उनके संबंध में वह वास्तव में दिव्य भाव होता है। गोपियाँ कृष्ण को अपना पति बनाना चाहती थीं, किन्तु कृष्ण का उन सबसे विवाह होने की संभावना नहीं थी। अतः उन्होंने यथावत अन्य पतियों का वरण किया (जबकि उनमें से कुछ रास-नृत्य के समय पर अविवाहित थीं) किन्तु कृष्ण के प्रति अपने प्रेम को संजोये रखा। अतः गोपियों के साथ कृष्ण का प्रेम-संबंध *परकीया-रस* कहलाता है। किन्तु जबकि भौतिक जगत में विवाहित नारी का किसी परपुरुष से संबंध घृणित है, आध्यात्मिक जगत में कृष्ण के साथ के संबंधों में यह परमोच्च है। जैसे जल में प्रतिबिंबित वृक्ष उलटा दिखाई पड़ता है, इसी प्रकार आध्यात्मिक जगत में परमोच्च तत्त्व—गोपियों के साथ कृष्ण के प्रेम-प्रसंग—भौतिक जगत में अवैध यौन-प्रसंगों के रूप में प्रतिबिंबित होकर घृणित हो जाता है। जब लोग गोपियों के साथ कृष्ण के रास-नृत्य का अनुकरण करते हैं, तो वे दिव्य *परकीया-रस* के विकृत प्रतिबिंब का ही भोग करते हैं। श्रील प्रभुपाद (कृष्ण : पृ. २४० अं.) लिखते हैं, "*श्रीमद्भागवतम्* में वर्णित है कि स्वप्न या कल्पना में भी इस परकीया रस का अनुकरण नहीं करना चाहिए। ऐसा करने वाले सबसे घातक विष का पान करते हैं।"

सांसारिक परकीया-रस का एक और लक्षण यह है कि वह अस्थिर होता है। संभोगानंद में विघ्न पड़ते ही व्यक्ति नया साथी खोजने लगता है। *श्रीमद्भागवतम्* भविष्यवाणी करता है कि कलियुग में विवाह संभोगानंद की सुविधामात्र रह जायेगा एवं उस आनंद में विघ्न पड़ते ही छिन्नभिन्न हो जायेगा। किन्तु कृष्ण के साथ एक बार संबंध का पुनर्जागरण करने पर, वह संबंध स्थिर एवं नित्यनवीन रहेगा।

कृष्ण के लिए गोपियों का प्रेम श्रीकृष्ण की *ह्लादिनी-शक्ति* के अंतर्गत है। जब श्रीकृष्ण आनंद लेना चाहते हैं, तब वे गोपियों का संग करते हैं, भौतिक जगत की स्त्रियों का नहीं। यह गोपियों की परमोत्कृष्ट आध्यात्मिक स्थिति का एक और निर्देश है। *ह्लादिनी-शक्ति* के माध्यम से गोपियों के साथ कृष्ण के आदान-प्रदान में असीमित तथा अनंत आनंद है; यह आनंद संभोग-प्रसंगों की शीघ्रतृप्त वासनाओं

से, जिसके उपरांत दुष्कर बंधन तथा कर्मफल ही प्राप्त होते हैं, सर्वथा भिन्न है।

शुकदेव गोस्वामी द्वारा रास-नृत्य के समय कृष्ण एवं गोपियों के प्रेम का आध्यात्मिक स्वरूप समझाने के बाद भी, महाराज परीक्षित ने शुकदेव से प्रश्न किया कि कृष्ण ऐसी क्रियाएँ क्यों करते हैं जिससे सामान्य लोगों को वे दुश्चरित्रवान प्रतीत हों? शुकदेव ने उत्तर दिया कि *परमेश्वर* होने के नाते भगवान् कृष्ण समस्त सामाजिक तथा धार्मिक सिद्धातों से स्वतंत्र हैं। यह उनकी महानता का ही अधिक प्रमाण है। परमेश्वर होने के नाते, भगवान् कृष्ण कभी कभी अपने स्वयं के निर्देशों की ही दण्डमुक्ति सहित अवहेलना कर सकते हैं, किन्तु यह परम-नियंता के लिए ही संभव है, हमारे लिए नहीं। चूँकि कोई भी भगवान् कृष्ण की विस्मयकारी क्रियाओं, जैसे ब्रह्माण्ड की सृष्टि या गोवर्धन पर्वत के धारण, का अनुकरण नहीं कर सकता, अतः किसी को उनके रास-नृत्य का अनुकरण करने का प्रयास भी नहीं करना चाहिए। कृष्ण तथा गोपियों के विषय में अन्य संदेहों का निवारण करने हेतु *'लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण'* के ३२ वें अध्याय का अध्ययन किया जा सकता है।

सूत्र २४

नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम्॥ २४॥

न—नहीं है; **एव**—अवश्य ही; **तस्मिन्**—उसमें; **तत्**—उनका; **सुख**—सुख में; **सुखित्वम्**—सुख।

अनुवाद

ऐसी मिथ्या भक्ति में व्यक्ति को मात्र भगवान् के सुख में ही सुख नहीं मिलता।

तात्पर्य

जैसा पहले वर्णन किया गया है, कामवासना प्रेम से वैसे ही भिन्न है जैसे लौह स्वर्ण से। श्रील कृष्णदास कविराज कहते है,

आत्मेंद्रिय प्रीति वाँछा – तारे बलि 'काम'।
कृष्णेंद्रिय प्रीति इच्छा धरे 'प्रेम' नाम॥

"निज इंद्रियों की तृप्ति चाहना *काम* है, किन्तु भगवान् कृष्ण की इंद्रियों की

तृप्ति चाहना *प्रेम* है।" (*चै.च. आदि.* ४.१६५)। श्रीमती राधारानी कृष्ण के प्रति अपने शुद्ध प्रेम को इस प्रकार व्यक्त करती हैं :

"मुझे अपनी व्यक्तिगत व्यथा की चिंता नहीं। मैं केवल कृष्ण का सुख चाहती हूँ, क्योंकि उनका सुख मेरे जीवन का लक्ष्य है। फिर भी, यदि उन्हें मुझे व्यथित करने में बड़ा सुख मिलता है, तो वह व्यथा मेरा श्रेष्ठ सुख है" (*चै.च. अन्त्य* २०.५२)।

कृष्ण दास कविराज हमें सूचित करते हैं, "गोपियों की निज भोग की कोई इच्छा नहीं, और फिर भी उनका सुख बढ़ता है। वह वास्तव में विरोधाभास है।" इस विरोधाभास का समाधान यह है कि "गोपियों का सुख उनके प्रेमास्पद कृष्ण के सुख में होता है।" (*चै.च. आदि.* ४.१८८-८९) यद्यपि भगवान् के प्रति इस निःस्वार्थ प्रेम में गोपियाँ नेता हैं, तथापि समस्त वैष्णव यह भाव अंगीकार करते हैं। जब भगवान् नृसिंहदेव प्रल्हाद महाराज को वरदान देना चाहते थे, जिन्होंने भगवान् के लिए अत्यधिक दुख उठाया था तो प्रल्हाद ने मना कर दिया। उन्होंने कहा कि उन्होंने किसी वणिक के भाव से, अपनी सेवा के बदले में किसी लाभ की अपेक्षा में, भक्तिमय सेवा का प्रतिपादन नहीं किया था : "हे मेरे प्रभु, मैं आपका निःस्पृही दास हूँ, एवं आप मेरे नित्य स्वामी हैं। हमें स्वामी एवं दास होने के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं होना चाहिए। आप स्वाभाविक रूप से मेरे स्वामी हैं, एवं मैं स्वाभाविक रूप से आपका दास हूँ। हमारे मध्य कोई अन्य संबंध नहीं" (*भागवत* ७.१०.६)।

ऐसे ही भाव में, माधवेन्द्र पुरी ने अपने प्रेमास्पद गोपाल विग्रह की बाबत चंदन का भार उठाकर लाने में कठिन तप किया। माधवेन्द्र मुसलमानों द्वारा शासित एवं चोर-उचक्कों से भरे क्षेत्र में सहस्रों मील चले। माधवेन्द्र की सेवा का वर्णन करते हुए, चैतन्य महाप्रभु ने कहा, "यह तीव्र भगवत्प्रेम का स्वाभाविक फल है। भक्त व्यक्तिगत असुविधाओं या अवरोधों की चिंता नहीं करता। सब परिस्थितियों में वह परम पुरुषोत्तम भगवान् की सेवा करना चाहता है।" (*चै.च. मध्य* ४.१८६)।

गोपियों के समान, सारे शुद्ध भक्तगण कृष्ण की सेवा करते हुए उस सेवा में कठोर तप निहित होने पर भी महान सुख का अनुभव करते हैं। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "यह कहा गया है कि जब हम किसी सिद्ध वैष्णव में दृश्यमान दुख या पीड़ा देखते हैं, तो वह उसके लिए दुख कदापि नहीं होता, अपितु दिव्य आनंद होता है" (*चै.च. मध्य* ४.१८६, तात्पर्य)।

हम पूछ सकते हैं कि केवल कृष्ण को प्रसन्न करने के भाव से कोई भक्त शुद्ध निस्स्वार्थ प्रेम लिए भगवान् कृष्ण तक क्यों पहुँचता है? इस प्रश्न का उत्तर समझने हेतु, व्यक्ति को स्वयं ऐसे प्रेम का अनुभव करना होगा। भौतिक जगत में भी ऐसे

प्रेम की झलक मिलती है, जैसे बालक के प्रति माँ का प्रेम। पशु जगत में भी कभी-कभी माँ अपनी जान पर खेल कर अपने बच्चे को बचाती है। किन्तु शुद्ध निस्वार्थ *प्रेम* केवल परम आकर्षक भगवान् के संबंध में ही रहता है। बुद्धि के मापदंडों से इस प्रेम का हूबहू विश्लेषण नहीं हो सकता, किन्तु शुद्ध हृदय से इसका अनुभव किया जा सकता है।

कृष्ण का सर्वाकर्षक स्वभाव एवं सब आत्माओं की आत्मा होने का तथ्य ही भक्तगणों का गुप्त प्रेरक बल है। शुकदेव गोस्वामी *श्रीमद्भागवतम्* (१०.१४.५०-५७) में इसकी व्याख्या तब करते हैं, जब वे बता चुके होते हैं कि कृष्ण ने किस प्रकार वृंदावन में गोप बालकों तथा बछड़ों के रूप में अपना विस्तार किया था। जब कृष्ण ने इस प्रकार अपना विस्तार किया था, तो गोपों एवं बछड़ों के माता-पिता ने अपने-अपने बालकों के प्रति अत्यधिक प्रेम का अनुभव किया। इस चमत्कारी लीला का ब्यौरा सुनकर, महाराज परीक्षित ने पूछा, "जब कृष्ण ने अपना विस्तार किया, तो गोपों के माता-पिता अपने बालकों की अपेक्षा कृष्ण को अधिक प्रेम क्यों करने लगे? तथा, गौएँ भी उन बछड़ों को अपने बछड़ों से अधिक प्रेम क्यों करने लगीं?"

शुकदेव ने उत्तर दिया कि चूँकि जीव के लिए अपनी आत्मा ही सबसे अधिक आकर्षक है, एवं चूँकि परमात्मा के रूप में कृष्ण सब आत्माओं की आत्मा हैं, अतः वे सबके लिए सर्व-आकर्षक केन्द्र हैं। इसलिए, जब उन्होंने वृंदावन के गोपबालकों तथा बछड़ों के रूप में अपना विस्तार किया, तो गोप एवं बछड़ों के मात-पिता कृष्ण के विस्तारों के प्रति अपने बालकों की अपेक्षा अधिक स्नेही हो गए।

कृष्ण को प्रेम करके, व्यक्ति सारे प्राणियों के लिए अपने प्रेम का अनुभव करता है। अन्य शब्दों में, विश्वप्रेम भगवद्-चेतना का अंश है। यह बाईबल के दो महान आदेशों में व्यक्त हैं : "तुम अपने प्रभु को संपूर्ण हृदय से, संपूर्ण आत्मा से, तथा संपूर्ण सामर्थ्य से प्रेम करो" (*ड्यूटेरोनमी* ६.५); एवं "तुम अपने पड़ोसी को अपने ही समान प्रेम करो" (*मेथ्यू* १९.१९)। प्रभुपाद यह दिखाने के लिए कि किस प्रकार से भगवत्प्रेम का तात्पर्य विश्वप्रेम होता है, यह घरेलु उदाहरण देते थे : जब कोई पुरुष किसी स्त्री से विवाह करता है, तो वह उसके पूरे परिवार से संबंध जोड़ लेता है और अपने नए संबंधियों के प्रति शीघ्र ही प्रेम का विकास कर लेता है। इसी प्रकार, यदि कोई सारे प्राणियों के पिता, कृष्ण से प्रेम विकसित करता है, तो वह तुरंत कृष्ण के सब बच्चों के प्रति अपने प्रेममय संबंध से अवगत हो जाता है। कृष्ण के प्रति अपने प्रेम का आंशिक अनुभव होने पर भी भक्त इस जगत में कृष्ण के मिशन की पूर्ति हेतु कार्य करना चाहता है, जो सारे प्राणियों को अपना दुख दूर

करने तथा भगवद्धाम लौटने में मदद करना है। जब व्यक्ति यह, प्रचारक के रूप में अपने यश हेतु तथा व्यवसाय के रूप में, नहीं करता, किन्तु कृष्णभावनामृत फैलाने के लिए सारी कठिनाईयों को झेलते हुए विनम्र दास के रूप में करता है– तो वह भगवान् का प्रियतम सेवक बन जाता है। आध्यात्मिक प्रेम में यह सुख की सिद्धि है, और यह कामवासना अर्थात् निर्जेंद्रिय-तृप्ति से सर्वथा विपरीत है।

सूत्र २५

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा।। २५ ।।

सा—वह; **तु**—किन्तु; **कर्म**—सकाम कर्म; **ज्ञान**—मनोधर्मी चिंतन; **योगेभ्यः**—तथा योग; **अपि**—अवश्य ही; **अधिकतरा**—श्रेष्ठ।

अनुवाद

दूसरी ओर, शुद्ध भक्तिमय सेवा सकाम कर्म, मनोधर्मी चिंतन, तथा योग साधना से कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

तात्पर्य

परा भक्ति की उदाहरणस्वरूप, व्रजगोपियों की व्याख्या करने के पश्चात्, नारद अब सामान्य *भक्ति-योग* की ओर अपना ध्यान मोड़ रहे हैं। यहाँ नारद आह्वान करते हैं कि सब *भक्तगण* श्रेणीगत रूप से अन्य वैदिक साधकों से उत्तम हैं। कर्मी, ज्ञानी, योगी तथा भक्त की श्रेणियों में मनुष्यों का विभागीकरण स्वयं ही वैदिक ज्ञान का अनुपम उपहार है। आइये देखें कि सब संभव साधनाओं में *भक्ति* क्यों श्रेष्ठतम है?

कर्म व्यापक रूप में किसी भी क्रिया की ओर संकेत करता है, किन्तु बहुधा उसका तात्पर्य वैदिक निर्देशों के क्षेत्र के अंतर्गत फल-भोग के उद्देश्य से की गई क्रियाओं से होता है। (एक अन्य शब्द, *विकर्म,* का प्रयोग वेदों में निषेध की गई क्रिया के लिये होता है।) अतः *कर्म,* यद्यपि धार्मिक धरातल पर होता है, तथापि भौतिक है। कर्मी इस जीवन में धन, इंद्रिय-भोग तथा यश जैसे पुरस्कारों में रुचि रखता है, एवं वह अगले जीवन में उच्च लोकों पर पदोन्नति भी चाहता है। *कर्म* का बड़ा दोष यह है कि वह सदैव प्रतिक्रियाओं में फलान्वित होता है, जो *कर्मी* को आत्मा के स्थानान्तरण के अन्तर्गत पुनर्जन्म लेने को बाध्य करती हैं। अतः, "पुण्य"

हो या "पाप" हो, समस्त *कर्म* व्यक्ति को जन्म और मृत्यु के चक्र में ही बद्ध रखते हैं।

ज्ञान का अर्थ ज्ञान का अनुशीलन है। ज्ञानी *कर्म* की अपूर्णता देखता है तथा उच्चतर सत्य की खोज प्रारंभ करता है। ज्ञानीगण साधारणतया दार्शनिक तथा ध्यानी होते हैं। वे केवल भौतिक फलों में रुचिवान नहीं होते, अपितु ज्ञान की ही बाबत ज्ञान का अनुशीलन करते हैं। वैदिक शास्त्रों के अध्ययन द्वारा अथवा ध्यान द्वारा *ज्ञान* के अनुशीलन से, ज्ञानी आध्यात्मिक ज्ञान, अर्थात नित्य ब्रह्म की अभिज्ञता की कगार पर आ सकता है। किन्तु जब तक वे आगे चलता हुआ परम पुरुषोत्तम भगवान् से अपना संबंध नहीं समझता, तब तक वे *कर्मी* की ही भाँति पराजय की पीड़ा उठायेगा—जन्म एवं मृत्यु के चक्र में बद्धता। देवताओं द्वारा कृष्ण को की गई प्रार्थना में ज्ञानियों की अपूर्णता का संकेत मिलता है :

> हे कमलनयन प्रभु! यद्यपि परम पद की प्राप्ति हेतु कठिन तपश्चर्या को स्वीकार करने वाले अभक्तगण स्वयं को मुक्त मान सकते हैं, तथापि उनकी बुद्धि अशुद्ध है। उनका उनके द्वारा कल्पित श्रेष्ठता की स्थिति से पतन हो जाता है क्योंकि वे आपके चरणकमलों के प्रति कोई श्रद्धा नहीं रखते। (*भागवत* १०.२.३२)

मानव साधना की तृतीय श्रेणी *योग* है। भगवान् कृष्ण *योगी* का विवरण यूँ करते हैं : "*योगी* साधु से बड़ा है, ज्ञानी से बड़ा है, सकाम कर्मी से बड़ा है। अतः, हे अर्जुन, हर परिस्थिति में *योगी* बनो" (भ.गी. ६.४६)। *योग* कई प्रकार के हैं, जैसे *हठ योग, अष्टांग-योग, राज-योग, ध्यान-योग,* तथा *भक्ति-योग*। प्रारंभिक *हठ-योग* व्यायाम व विश्राम के रूप में बहुत लोकप्रिय हो गया है, किन्तु यथार्थ *योग*—जैसा पतंजली द्वारा उनके *योग-सूत्र* में अथवा कृष्ण द्वारा *भगवद्गीता* के छठे अध्याय में शिक्षित योग—*समाधि* की प्राप्ति हेतु अष्टांग ध्यान-पद्धति है अथवा परमतत्व में मन के पूर्णतः मग्न होने को कहते हैं। अष्टांग योग पद्धति बहुत कठिन है, तथा अर्जुन ने भी यही निर्णय लिया था कि वह उसके लिए अत्यधिक कठिन होगी। एवं जो थोड़े से व्यक्ति इसका अभ्यास कर पाते हैं वे बहुधा इस योग के द्वारा प्राप्त सिद्धियों द्वारा मोहित हो जाते हैं। ये सिद्धियाँ हैं—जल पर चलना, बहुत छोटा हो जाना, अन्य लोगों के मन का नियंत्रण करना, आदि। अतः यह योग-पद्धति, अत्यधिक कठिन होने तथा कई संभव विकर्षणों से पूर्ण होने के कारण, इस युग में संस्तुत नहीं है।

कर्म, ज्ञान तथा *योग* की क्रियाएँ *भक्ति* के साधकों द्वारा निन्द्य नहीं होतीं।

अपितु, जब ये अपूर्ण क्रियाएँ भगवद्सेवा से संयुक्त कर दी जाती हैं तो वे सेवा की अनुकूल पद्धतियाँ बन जाती हैं। उदाहरणस्वरुप, जब *कर्म,* या क्रिया, को भक्ति से संयुक्त किया जाता है तो वह *कर्म-योग,* अर्थात कृष्णभावनामृत में कर्म, बन जाता है। भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (९.२७) में इसकी संस्तुति करते हैं :

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"तुम जो भी करो, जो भी खाओ, जो भी दान दो एवं जो भी तप करो—वह सब, हे कुन्तीपुत्र, मुझे अर्पण करते हुए करो।"

ज्ञान का अनुशीलन करने वाले बहुधा बहुत अभिमानी होते हैं तथा स्वयं को भक्तों से श्रेष्ठ समझते हैं। किन्तु ज्ञान की पूर्णता परम पुरुषोत्तम भगवान् की शरणागति तथा यह समझने में है कि वही सबकुछ हैं। तब ज्ञान *ज्ञान-योग* बन जाता है तथा मनोधर्मी चिंतन से शुद्ध हो जाता है। जैसा कृष्ण ने *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा है,

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

"कई जन्मों के पश्चात् यथार्थ ज्ञानी मुझमें शरणागत हो जाता है, यह जानते हुए कि मैं ही सारे कारणों का कारण हूँ। ऐसा महात्मा बहुत दुर्लभ है।"

इसी प्रकार, कृष्ण *गीता* के छठे अध्याय के अंत में अर्जुन को बताते हैं कि कृष्णभावनामृत में संलग्नता परम *योग* है :

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

"एवं समस्त योगियों में, जो अत्यंत श्रद्धा से मेरे परायण रहता है, अपने भीतर मेरा स्मरण करता है, तथा मेरी दिव्य प्रेममयी सेवा करता है – वह *योग* में मुझसे परम अंतरंग रूप से युक्त है तथा सर्वश्रेष्ठ है। यह मेरा मत है" (*भ. गी.* ६.४७)।

तो *कर्म, ज्ञान* तथा *योग* कृष्णभावनामृत के अनुकूल बन सकते हैं। किन्तु *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण की शिक्षाओं का उपसंहार प्रत्यक्ष परा-भक्ति है :

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

"सदा मेरा चिंतन करो, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो, एवं मेरा सम्मान करो।

इस प्रकार तुम निश्चित रूप से मेरे पास आ सकोगे। मैं तुमसे इसकी प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तुम मेरे बहुत प्रिय सखा हो। सब प्रकार के धर्मों को त्याग दो तथा केवल मेरी शरण मात्र लो। मैं तुम्हें सारे पापों से तार दूँगा। डरो मत" (*भ.ग.* १८.६५,६६) अतः *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण ने नारद के दावे को सुनिश्चित किया है कि भक्ति सर्वश्रेष्ठ है।

सूत्र २६

फलरूपत्वात्॥ २६॥

फल—फल के; **रूपत्वात्**—रूप होने के कारण।

अनुवाद

अंततः, भक्ति सारे साधनों का फल है।

तात्पर्य

भक्ति फल तक पहुँचने के साधन से बढ़कर है। यह जीव का वैधानिक स्वभाव है। जैसा *चैतन्य-चरितामृत* (*मध्य* २०.१०८) में चैतन्य महाप्रभु कहते हैं, *जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्य दास'।* "कृष्ण का नित्य दास होना जीव की स्वरूपस्थिति है।" प्रारम्भिक स्तरों में भी, *भक्ति* साधन तथा साध्य दोनों है। इसकी व्याख्या हेतु, श्रील प्रभुपाद आम का उदाहरण देते हैं। अपनी कच्ची अवस्था में, आम आम है, तथा पक जाने एवं स्वादिष्ट हो जाने पर भी, वह आम ही है। अतः *भक्ति* की प्रारम्भिक क्रियाएँ भी भगवत्प्रेम के अंतर्गत हैं तथा कृष्ण को प्रिय हैं। किन्तु *कर्म, ज्ञान* और *योग* की क्रियाएँ कृष्ण को तब तक प्रिय नहीं जबतक वे *भक्ति* से संयुक्त नहीं हो जाती।

जब व्यक्ति भक्तिमय सेवा प्रारंभ करता है, तो गुरु द्वारा आदेशित वैधी-भक्ति का अभ्यास ही मुख्य होता है। किन्तु इस अवस्था में भी *भक्ति-योग* आत्मा की सुप्त प्रवृत्तियों पर आधारित होता है। श्रील प्रभुपाद *भक्तिरसामृतसिन्धु* में (पृष्ठ २०) इसकी व्याख्या करते हैं :

> भक्तिमय सेवा का अभ्यास किसी कृत्रिम वस्तु के साध्य हेतु नहीं। उदाहरणस्वरूप, एक बालक चलना सीखता है या उसका अभ्यास करता है। यह चलना अस्वाभाविक नहीं। बालक में चलने की सामर्थ्य पहले से ही

रहती है, और केवल थोड़े अभ्यास से वह बड़ी अच्छी प्रकार से चलना प्रारंभ कर देता है। इसी प्रकार, भगवान् की भक्तिमय सेवा प्रत्येक जीव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

नारद ने भक्ति को अन्य पद्धतियों से श्रेष्ठ इसलिए बताया है क्योंकि वह साधन-साध्य दोनों है, जबकि अन्य पद्धतियाँ अंततः भक्ति तक पहुँचाने पर ही सार्थक मानी जा सकती हैं। यह भक्ति के सर्वश्रेष्ठ होने का एक महत्त्वपूर्ण कारण है, और अब नारद अन्य प्रमाण देंगे।

सूत्र २७

ईश्वरस्याप्यभिमानिद्वेषित्वाद्दैन्यप्रियत्वाच्च ॥ २७ ॥

ईश्वरस्य—ईश्वर का; **अपि**—भी; **अभिमानि**—अभिमानी का; **द्वेषित्वात्**—द्वेषी होने के कारण; **दैन्य**—विनम्रता का; **प्रियत्वात्**—प्रिय होने के कारण; **च**—और।

अनुवाद

इसके अतिरिक्त, भगवान् अभिमानी से द्वेष तथा दीन से प्रेम करते हैं।

तात्पर्य

जिस दीनता की नारद यहाँ प्रशंसा कर रहे हैं वह साधारण दीनता नहीं, अपितु भगवान् से संबंधित है। सार यह है कि *भक्त* वही करता है जो कृष्ण को प्रिय हो। *हरि-भक्ति-विलास* (११.४१७) में, सनातन गोस्वामी शरणागत जीव के छः लक्षण बताते हैं, तथा उनमें से प्रत्येक भगवान् के आगे विनम्रता का द्योतक है :

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥

"कृष्ण के प्रति पूर्ण शरणागति के छः अंग हैं : (१) भक्तिमय सेवा हेतु अनुकूल वस्तुओं को स्वीकारना, (२) भक्तिमय सेवा हेतु प्रतिकूल वस्तुओं का वर्जन, (३) कृष्ण द्वारा रक्षण में दृढ़ विश्वास, (४) अपने निर्वाह हेतु भगवद्-कृपा पर एकनिष्ठ निर्भरता का भाव, (५) भगवान् की इच्छा से पृथक् किसी भी इच्छा का अभाव, एवं (६) भगवान् के आगे सदैव दीन और विनम्र बने रहना।"

दीनता कृष्ण को प्रिय है, और इसलिए भक्त विनम्र होता है। यदि भगवान् ने कहा होता कि उन्हें अभिमान अधिक प्रिय है, तो भक्त अभिमानी हो जाता। वास्तव में, कभी कभी भगवान् अपने अंतरंग मित्रों द्वारा दिव्य अभिमान का प्रदर्शन तथा उनके उलाहने सुनना पसंद करते हैं। भगवान् की *योगमाया* शक्ति के प्रभाव से, कृष्ण के गोपबालक मित्रगण स्वयं को उनके समान समझते हैं और कभी-कभी उनको चुनौती देते हैं। कोई बालक उनकी पीठ पर चढ़कर कहेगा, "तुम किस प्रकार के बड़े आदमी हो?" इसी प्रकार, जब माँ यशोदा अथवा श्रीमती राधारानी कृष्ण को डाँटती हैं, तो उन्हें अच्छा लगता है। ये *प्रेम-भक्ति* में अभिमानी बर्ताव के उदाहरण हैं, किन्तु नारद अधिक आधारभूत निर्देश की चर्चा कर रहे हैं—कि अपने पर तथा अपनी क्रियाओं पर अभिमान करना भगवान् को प्रिय नहीं है।

प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वीकार करना चाहिए कि उसके सारे ऐश्वर्य भगवान् द्वारा प्रदत्त हैं। जो भी कौशल, धन, सौन्दर्य, यश, या विद्वत्ता हमारे पास है उसका अभिमान व्यर्थ है क्योंकि ये सभी "उधार के पंख" हैं। भक्तिमय सेवा में जब हम कृष्ण का अनुग्रह भी पायें, तो हमें जानना चाहिए कि वह उनकी कृपा के कारण है, एवं हमारी निजी महानता नहीं है। कभी-कभी जब कोई भक्त अभिमान करता है, तो कृष्ण स्वयं उसके अभिमान को कुचल डालते हैं, जैसा रास-नृत्य के आरंभ में हुआ :

> गोपियाँ... कृष्ण के संग का अनुग्रह पाकर स्वयं को विश्व की सबसे सौभाग्यवान स्त्रियाँ समझते हुए, शीघ्र ही बहुत अभिमान करने लगीं। केशव कहे जाने वाले भगवान् कृष्ण उनके व्यक्तिगत संग के सौभाग्य के कारण जगे गोपियों के अभिमान को तुरंत ताड़ गए, एवं उनपर अपनी अहैतुकी कृपा दिखाने तथा उनके मिथ्या अभिमान को चूर करने हेतु, वे अपने त्याग का ऐश्वर्य-प्रदर्शन करते हुए तत्काल अदृश्य हो गए।

व्यक्ति के पास जितनी अधिक शक्ति हो, उसकी अभिमान करने की संभावना उतनी ही बढ़ जाती है। ब्रह्मा एवं इंद्र जैसे देवतागण कभी-कभी अभिमान में पड़कर कृष्ण की सर्वश्रेष्ठ स्थिति भूल जाते हैं। एक बार जब इंद्र कृष्ण से द्वेष करने लगा, तो उसने घोर वर्षा द्वारा वृंदावनवासियों को दण्डित करना चाहा, किन्तु कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को उठाकर व्रजवासियों की रक्षा की। इंद्र तब कृष्ण के पास आकर क्षमा माँगने लगा :

> (इंद्र ने कहा,) "इस भौतिक जगत में मेरे जैसे कई मूर्ख हैं जो विश्व में स्वयं को भगवान् या सर्वेसर्वा मानते हैं। आप इतने कृपालु हैं कि उनके

अपराधों का दण्ड दिए विना, आप उनके मिथ्या अभिमान को कुचलने का रास्ता निकालते हैं जिससे वे केवलमात्र आप को ही परम पुरुषोत्तम भगवान् जान लें।" (कृष्ण : पृ. २२६ अं.)

चैतन्य महाप्रभु पवित्र भगवन्नाम का जप करने के उत्सुकों हेतु दीनता अनिवार्य मानते थे। अपने शिक्षाष्टक (३) में उन्होंने लिखा,

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीय सदा हरिः॥

"जो स्वयं को तृण से नीच माने, जो वृक्ष से अधिक सहनशील हो, और जो मान की अपेक्षा न करे, अपितु अन्यों को समस्त मान देने को सदैव तैयार रहे, वह बड़ी सरलता से सदैव पवित्र भगवन्नाम का जप कर सकता है।"

वैष्णवगण न केवल भगवान् एवं उनके प्रत्यक्ष प्रतिनिधियों को, अपितु सभी प्राणियों को सम्मान देते हैं। आध्यात्मिक उन्नति के अनुपात में व्यक्ति विनम्र हो जाता है। *महाभागवत* तो अपने अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् कृष्ण के दास के रूप में देखता है जैसे *चैतन्य-चरितामृत* (*अन्त्य* २०.२५), "यद्यपि वैष्णव सबसे उत्कृष्ट व्यक्ति होता है, तथापि वह अभिमानशून्य होता है एवं प्रत्येक को कृष्ण का विश्राम-स्थल जानकर सम्मान देता है।"

यदि किसी बिन्दु पर भक्त विशिष्ट वैष्णव होने का अभिमानी हो जाए, तो यह एक *अनर्थ* (अनचाही वस्तु) है। यह *चैतन्य-चरितामृत* (*अन्त्य* २०.२८) में सुनिश्चित हुआ है : "जहाँ भी भगवत्प्रेम का संबंध है, वहाँ यह स्वाभाविक लक्षण है कि भक्त स्वयं को भक्त नहीं मानता। अपितु, वह सदैव यही सोचता है कि उसके पास बूँदभर कृष्ण-प्रेम भी नहीं है।"

यद्यपि सभी अध्यात्मवादी दीनता की इच्छा कर सकते हैं, तथापि *भक्ति-योग* इसके उपार्जन का सर्वोत्तम साधन है। भक्ति-योग में भगवान् कृष्ण को दीन क्रियाओं से प्रसन्न करने के बिना व्यक्ति प्रगति नहीं कर सकता, जबकि *कर्म, ज्ञान,* एवं *योग* सीधे रूप में दीनता का उपार्जन नहीं करवा सकते। अतः इन अन्य पद्धतियों का पालन करने वाले व्यक्ति के लिए यह संभावना अधिक है कि यह सोचे कि वह अपने प्रयास से प्रगति कर रहा है। *कर्मी* सोच सकता है कि वह अपने प्रयास से धन का संग्रह कर रहा है, *ज्ञानी* सोच सकता है कि वह अथक अध्ययन से ज्ञान पा रहा है, एवं *योगी* सोच सकता है कि अपने वर्षों की लम्बी तपस्या से उसे सिद्धियाँ मिली हैं।

इसके विपरीत, शुद्ध *भक्त* जानता है कि भक्तिमय सेवा के मध्य उसका

आनंदानुभव भगवान् की कृपा मात्र से ही है। अतः केवल भक्त ही सदैव अवगत रहता है कि उसकी प्रगति कृष्ण के समक्ष उसकी दीनता पर निर्भर करती है। व्यक्ति एक ही समय में अभिमानी तथा भक्त नहीं हो सकता।

भगवान् कृष्ण दीन के प्रति आकर्षित होते हैं। उदाहरणस्वरूप, वे सुदामा विप्र के निष्कपट बर्ताव से बहुत प्रसन्न हुए थे तथा उन्होंने अनेक प्रकार से उसे आशीर्वाद दिया था। इसी प्रकार, चैतन्य महाप्रभु ने कालीदास नामक भक्त पर, जो महान आदर तथा प्रेम से समस्त वैष्णवों की पूजा करता था, विशेष कृपा दिखाई थी। किन्तु महाप्रभु वल्लभ भट्ट की अभिमानपूर्ण विद्वत्ता से प्रसन्न नहीं हुए थे।

यहाँ नारद के कथन—कि भगवान् दीन से प्रसन्न तथा अभिमानी से अप्रसन्न होते हैं—का अर्थ यह नहीं है कि कृष्ण पक्षपाती हैं। भगवान् कृष्ण किसी के भी प्रति अपने प्रेम को रोककर नहीं रखते; अपितु, यह तो हम ही हैं जो दर्प एवं अज्ञान के कारण उनके प्रति अपने प्रेम को रोकते तथा इस प्रकार उनकी उपस्थिति तथा प्रेम के आदान-प्रदान के अनुभव पाने के लिए अयोग्य हो जाते हैं। सूर्य सभी प्राणियों के लाभ के लिए चमकता है, किन्तु उल्लू जैसे जन्तु स्वयं को उसकी किरणों से छुपाते फिरते हैं। महान भक्त, प्रह्लाद महाराज *श्रीमद्भागवतम्* (७.९.२७) में इसे इस प्रकार व्यक्त करते हैं :

> एक सामान्य जीव से विपरीत, मेरे प्रभु, आप शत्रु-मित्र, अनुकूल-प्रतिकूल के मध्य भेदभाव नहीं रखते, क्योंकि आपके लिए ऊँचे-नीचे की कोई धारणा नहीं। फिर भी, आप अपने वर-दान व्यक्ति की सेवा के स्तर के अनुसार प्रदान करते हैं, ठीक एक कल्पवृक्ष के समान, जो व्यक्ति की इच्छानुसार फल देता है एवं ऊँचे नीचे में भेद नहीं करता।

सूत्र २८

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके॥ २८॥

तस्या—उसका (भक्ति का); **ज्ञानम्**—ज्ञान; **एव**—ही एकमात्र; **साधनम्**—साधन; **इति**—अतः; **एके**—कुछ।

अनुवाद

कुछ लोग कहते हैं कि ज्ञान ही भक्ति के विकास का साधन है।

तात्पर्य

प्रस्तुत एवं परवर्ती दो सूत्रों में नारद ज्ञान तथा भक्ति के मध्य संबंध की व्याख्या करते हैं।

क्या भक्ति ज्ञान पर टिकी होती है? ज्ञानप्राप्ति निश्चय ही कृष्णभावनामृत का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। *भगवद्गीता* के आरंभ में, कृष्ण अर्जुन के "आर्य वचन" बोलने पर भी उसे अज्ञान की क्रिया करने वाले व्यक्ति की तरह फटकारते हैं। इस प्रकार कृष्ण अर्जुन के गुरु बन जाते हैं तथा आत्मा की अमरता के संबंध में उसे शिक्षित करना प्रारंभ करते हैं। वास्तव में, पूरी *भगवद्गीता* में भगवान् अर्जुन को भक्तिमय सेवा से संबंधित आवश्यक ज्ञान देते हैं। चैतन्य महाप्रभु ने भी सार्वभौम भट्टाचार्य, प्रकाशानंद सरस्वती, एवं रूप-सनातन गोस्वामी के साथ अपनी लीलाओं में एक शिक्षक की भूमिका ग्रहण की।

कृष्णभावनामृत ज्ञान निर्विशेष *ज्ञान* नहीं अपितु आत्मा, भगवान् एवं भगवान् की शक्तियों का, भक्ति की पराकाष्ठा सहित, ज्ञान है। अतः यह स्पष्ट है कि ज्ञान से भक्ति के अभ्यास में सहायता मिलती है। कभी कभी श्रील प्रभुपाद से पूछा जाता था, "ज्ञानविहीन व्यक्ति गुरु की प्रामाणिकता कैसे जान सकता है?" श्रील प्रभुपाद उत्तर देते थे कि *प्रामाणिक* गुरु को जानने हेतु सर्वप्रथम थोड़ा यह जानना होता है कि *गुरु* क्या होता है? वे यह उदाहरण देते थे कि यदि कोई व्यक्ति स्वर्ण खरीदना चाहे, तो अच्छा हो कि वह स्वर्ण तथा स्वर्ण बाज़ार के बारे में जानकारी ले ले। नहीं तो, वह सरलता से धोखा खायेगा अथवा यदि कोई व्यक्ति महा-विद्यालय जाना चाहे, तो उसे विभिन्न विश्वविद्यालयों की योग्यताओं, उनमें प्रवेश की आवश्यकताओं, इत्यादि का विश्लेषण करना होगा। अतः ज्ञान निश्चित रूप से *भक्ति* का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। श्रील प्रभुपाद ने दिव्य ज्ञान बाँटने के उदेश्य से अपने ग्रंथ लिखे, एवं अपनी *भगवद्गीता* में उन्होंने लिखा, "दर्शनविहीन धर्म भावुकता है, या कभी कभी कट्टरता हो जाता है, जबकि धर्मविहीन दर्शन मनोधर्मी चिंतन है।"

यद्यपि ज्ञान महत्त्वपूर्ण है, तथापि वह भक्ति की अनिवार्य आवश्यकता नहीं। यदि कृष्ण चाहें, तो वे किसी भी व्यक्ति को तुरंत प्रबुद्ध कर सकते हैं, भले ही उसकी शिक्षा कितनी भी हो। एवं *श्रीमद्भागवतम्* (१.२.७) में सूत गोस्वामी घोषित करते हैं,

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥

"भगवान् कृष्ण के प्रति भक्तिमय सेवा के प्रतिपादन द्वारा व्यक्ति तुरंत अहैतुकी ज्ञान एवं वैराग्य की प्राप्ति कर लेता है।"

अतः जबकि ज्ञान भक्ति ग्रहण करने तथा अनुशीलन करने में मदद कर सकता है, ज्ञान को भक्ति का स्रोत मानना त्रुटिपूर्ण है।

सूत्र २९

अन्योन्याश्रयत्वमित्येके ॥ २९ ॥

अन्योन्य—परस्पर; **आश्रयत्वम्**—निर्भरता; **इति**—अतः; **एके**—कुछ।

अनुवाद

कुछ अन्य लोग भक्ति एवं ज्ञान को परस्पराश्रित (एक दूसरे पर निर्भर) मानते हैं।

तात्पर्य

ज्ञान एवं भक्ति का आध्यात्मिक समन्वय *भक्ति-वेदांत* शब्द में अच्छी तरह अभिव्यक्त है। कुछ द्रष्टा *भक्ति* एवं *ज्ञान* को पृथक् अथवा एक दूसरे के विरोधी मानते हैं। अद्वैती लोग शंकराचार्य की टीका के अनुसार *वेदांत-सूत्र* के अध्ययन के माध्यम से अर्जित ज्ञान पर एकाधिकार का दावा करते हैं। किन्तु वेदांत अध्ययन भक्ति-योग के विरुद्ध नहीं है। *वेदांत-सूत्र* के रचयिता श्रील व्यासदेव हैं, जिन्होंने *श्रीमद्भागवतम्* की भी सरंचना की थी जो भक्ति का ग्रन्थरत्न है तथा *वेदांत-सूत्र* का स्वाभाविक भाष्य भी है। रामानुज, मध्व, एवं बलदेव विद्याभूषण प्रभृत वैष्णव आचार्यो में से सब ने *वेदांत-सूत्र* पर भाष्य लिखे तथा वेदांत से भक्ति का समन्वय प्रमाणित कर दिया। अतः जब कोई वैष्णव भगवान् की गुणावली समझने के लिए *वेदांत-सूत्र* तथा अन्य वैदिक शास्त्रों का अध्ययन करता है, तो हमें *भक्ति-वेदांत* मिलता है।

ज्ञान उस कृष्णभावनाभावित प्रचारक हेतु विशेष रूप से आवश्यक है, जिसे विरोधी तर्कों का सामना करना पड़ता हो। सभी वैष्णव आचार्यगण संस्कृत, दर्शन, एवं न्याय में अत्यंत प्रवीण थे, किन्तु शैक्षिक या निर्विशेषवादी विद्वानों जैसे शुष्क चिंतक नहीं थे। वे जानते थे कि कृष्ण ही वेदों की सार-परिणति हैं। जैसा श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहते हैं, *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्* "सारे वेदों द्वारा मैं ही ज्ञेय हूँ। वास्तव में, मैं वेदांत का रचयिता हूँ, एवं मैं ही वेदों का ज्ञानी हूँ।"

ज्ञान एवं भक्ति समन्वयपूर्ण हैं, किन्तु उनको परस्पराश्रित कहना बहुत अधिक तीव्र बात होगी। बहुधा कृष्णप्रेम *ज्ञान* के लम्बे विकास के बिना आ जाता है। नारद मुनि ने एक बार एक निर्दय व्याघ्र को कृष्ण की शुद्ध भक्ति का आशीर्वाद दिया था। भक्ति का इस प्रकार का स्वतःस्फूर्त विकास *कृपा-सिद्धि*, अर्थात भगवान् एवं वैष्णवों की कृपा द्वारा सिद्धि, कहलाता है।

भगवान् की नित्य आनंद लीलाओं में, योगमाया कभी कभी भक्त का यह ज्ञान ढक देती है, कि कृष्ण भगवान् हैं। *ज्ञान* एवं *भक्ति* के सदैव परस्पराश्रित न होने का यह दूसरा उदाहरण है। अपने विशिष्ट भक्तिमय भाव (रस) पर निर्भर करते हुए कृष्ण के नित्य पार्षदगण कभी कभी यह स्मरण रखते हैं कि कृष्ण भगवान् हैं तथा कभी-कभी इसे भूल जाते हैं। कृष्ण के नामकरण संस्कार के समय गर्ग मुनि ने कहा था, "यह बालक बल, सौन्दर्य, ऐश्वर्य—सबमें—परम पुरुषोत्तम भगवान् नारायण के समान विकास करेगा।" तथापि माँ यशोदा कृष्ण से अपने आश्रित बालक के रूप में व्यवहार करती थीं। एक बार यशोदा ने कृष्ण को मुँह खोलने का आदेश दिया जिससे कि वे देख सकें कि क्या कृष्ण ने मिट्टी खाई थी। कृष्ण ने आदेश का पालन किया, एवं जब माँ यशोदा ने अपने बालक के मुँह में झाँका तो समस्त काल, स्थान तथा लोकों सहित विश्वरूप दिखाई पड़ा। कृष्ण को भगवान् समझकर वे प्रार्थना करने लगीं,

> मैं परम पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति श्रद्धापूर्ण प्रणाम अर्पण करना चाहती हूँ... जिनकी माया के प्रभाव से मैं सोच रही हूँ कि नंद महाराज मेरे पति हैं तथा कृष्ण मेरा पुत्र है, कि नंद महाराज की सारी संपत्तियाँ मेरी हैं, एवं सारे गोप-गोपी मेरी प्रजा हैं।"

किन्तु तब भगवान् कृष्ण ने माँ यशोदा के भय और आदर भाव को मातृस्नेह से आवृत करने हेतु अपनी योगमाया का विस्तार किया। वे तुरंत भूल गईं कि कृष्ण भगवान् हैं तथा फिरसे उनको अपना पुत्र मानने लगीं। भगवद्-लीला के ऐसे दृष्टांतों में कृष्ण की दिव्यता का ज्ञान आता-जाता है, परन्तु यह सदैव *भक्ति* की परिचर्या में रहता है।

सूत्र ३०

स्वयं फलरूपेति ब्रह्मकुमारः॥ ३०॥

स्वयं—स्वयं; **फल-रूपा**—फल के रूप में; **इति**—अतः; **ब्रह्मकुमारः**—ब्रह्मा के पुत्र (नारद)।

अनुवाद

किन्तु ब्रह्मकुमार कहते हैं कि भक्ति स्वयं अपना फल है।

तात्पर्य

नारद अब अपना मत देते हैं–कि *भक्ति* अपने पोषण हेतु किसी अन्य वस्तु पर आश्रित नहीं। अन्य शब्दों में, कृष्णभावनामृत जीव की स्वाभाविक, दिव्य स्थिति है, तथा यह स्थिति *भक्ति-योग* की पद्धति ग्रहण करने पर स्वतः ही अभिव्यक्त होती है। जैसा श्रील प्रभुपाद 'हरेकृष्ण जप' पर अपने व्याख्यान में कहते हैं, "कृष्णभावना मन पर कोई कृत्रिम छाप नहीं है। यह भावना तो जीव की आदि शक्ति है।" श्रील प्रभुपाद कहते हैं कि *हरे कृष्ण जप* "ऐन्द्रिय, मानसिक तथा बौद्धिक चेतना के निम्न स्तरों का अतिक्रमण करता हुआ सीधे आध्यात्मिक स्तर से अभिनीत होता है।"

अपने *शिक्षाष्टक* (१) में, भगवान् चैतन्य महाप्रभु घोषणा करते हैं कि कृष्ण के पवित्र नाम का जप चेतना के दर्पण की सफाई करता है। जब मन का दर्पण साफ होता है, तो व्यक्ति भगवान् के साथ-साथ अपना आदि आध्यात्मिक स्वरूप भी देख सकता है। अतः, भक्ति की प्रारंभिक क्रियाएँ अज्ञान तथा मिथ्या अहंकार को मिटाकर भक्तिमय सेवा-रूपी जीव की नित्य स्थिति को उसे प्रकट कर देती हैं।

अतः भक्ति किसी अन्य वस्तु द्वारा उत्पादित नहीं होती, अपितु साधना-भक्ति का अभ्यास भगवान् के साथ हमारे आदि प्रेममय संबंध के बीच की बाधाओं को हटा देता है।

श्रील प्रभुपाद कभी-कभी कहा करते थे कि कृष्णभावना अहैतुकी होती है। उदाहरणस्वरूप, "सुप्त भगवत्प्रेम का पुनर्जागरण श्रवण कीर्तन की यांत्रिक पद्धति पर निर्भर नहीं होता, अपितु यह पूर्णतः केवल भगवान् की अहैतुकी कृपा पर निर्भर होता है" (*भागवत* १.७.६, तात्पर्य)। इसका अर्थ है कि भगवान् मुक्त रूप से भक्त को *भक्ति* प्रदान करते हैं। भगवान् हमारे द्वारा संपन्न की गई किसी धार्मिक क्रिया अथवा तपश्चर्या का उत्तर देने को, कानून के यंत्रवत पालन के समान, बाध्य नहीं हैं। कर्म-मीमांसकों द्वारा प्रवर्तित यह सिद्धांत *भक्ति-योग* में अस्वीकृत है। कृष्ण *स्वराट*, अर्थात परम स्वतंत्र हैं, तथा *भक्ति* ऐसी ही है। अन्य शब्दों में, भक्तिमय सेवा में प्रगति कर्म, ज्ञान या योग जैसे पुरुषार्थ के विभिन्न विभागों में से किसी पर भी निर्भर नहीं करती। यदि व्यक्ति किसी विभाग में—यहाँ तक कि स्वयं भक्ति में भी—पिछड़ा हुआ हो तो भगवान् कृष्ण उसकी इच्छानुसार आवश्यकता-पूर्ति कर

सकते हैं।

नारद मुनि के मुक्त विचरण के वर्णन वाले एक तात्पर्य में, श्रील प्रभुपाद *भक्ति-योग* की स्वतंत्रता की भावपूर्ण अभिव्यक्ति करते हैं :

> (नारद के) विचरण का कोई कारण या बाध्यता नहीं है, एवं उनके, स्वतंत्र विचरण से उन्हें कोई नहीं रोक सकता। इसी प्रकार, भक्तिमय सेवा की दिव्य पद्धति भी स्वतंत्र है। सारे विस्तारित सूत्रों के पालन के पश्चात् भी वह किसी व्यक्ति में हो भी सकती है अथवा नहीं भी हो सकती है। इसी प्रकार, भक्तों का संग भी स्वतंत्र है। कोई उसे पाने का सौभाग्यशाली हो सकता है, अथवा सहस्रों यतनों के पश्चात भी नहीं पा सकता। अतः, भक्तिमय सेवा के प्रत्येक क्षेत्र में, स्वतंत्रता मुख्य धुरी है। (*भागवत* १.६.३७. तात्पर्य)

मायावादी कभी कभी प्रस्तुत सूत्र जैसे सूत्र को तोड़मरोड़ सकता है, यह प्रमाणित करने के प्रयास में कि व्यक्तिगत *आत्मा* को आत्म-साक्षात्कार की प्राप्ति हेतु किसी मदद की आवश्यकता नहीं। वह कहता है कि शास्त्र एवं गुरु तथा स्वयं भगवान् भी हमें आत्म-साक्षात्कार कराने में सहायक आविष्कार मात्र हैं, किन्तु उन्हें बाद में उसी प्रकार फेंक देना चाहिए जिस प्रकार मांस में चुभे हुए काँटे को अन्य काँटे से निकालकर दोनों काँटों को फेंक देना होता है। यहाँ मिथ्या धारणा यह है कि *भक्ति-शास्त्र* एवं शुद्ध भक्त भौतिक जगत के सीमित उत्पादन हैं। यथार्थ में, शास्त्र परम पुरुषोत्तम भगवान् के नित्य प्रकाश हैं, जैसा *भगवद्गीता* (३.१५) में व्यक्त है : *ब्रह्माक्षर-समुद्भवम्* / अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि *वेद* "नारायण की श्वास हैं"। वैदिक शास्त्र कभी प्रकाशित होते हैं एवं कभी प्रकाशित नहीं होते, किन्तु वे नित्य रहते हैं। इसी प्रकार, भगवान् एवं उनके नित्य पार्षद कभी-कभी इस भौतिक जगत में प्रकट होते हैं, तथा कुछ समय के पश्चात् अप्रकट हो जाते हैं, किन्तु आध्यात्मिक जगत में वे सदैव प्रकाशित रहते हैं, जहाँ वे अनंत प्रकार की लीलाओं में भाग लेते हैं। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं,

> न्यून ज्ञानराशि के व्यक्ति निर्णय करते हैं कि भौतिकगुणरहित स्थान को निर्विशेष शून्य होना चाहिए। किन्तु यथार्थ में, आध्यात्मिक जगत में गुण हैं, परन्तु वे भौतिक गुणों से भिन्न हैं क्योंकि वहाँ सब कुछ नित्य, असीमित, एवं विशुद्ध है। (*चैतन्य-चरितामृत . आदि* ५.२२, तात्पर्य)

भगवान् कृष्ण, उनके विस्तार, एवं उनके भक्तगण "गौण" नहीं हैं, जैसा मायावादी कहते हैं। इसके विपरीत, स्वयं मायावादी सिद्धांत ही अस्थायी है, जिसे

एक विशिष्ट समय पर विशेष उद्देश्य से प्रवर्तित किया गया था, किन्तु तत्पश्चात् उसे छोड़ देना था। श्रील कृष्णदास कविराज लिखते हैं,

> शंकराचार्य, जो शिवजी के अवतार थे, दोषरहित हैं क्योंकि वे भगवान् के आदेशवाहक सेवक हैं। किन्तु उनके मायावाद दर्शन के अनुयायी सर्वनाश के पथ पर हैं। वे आध्यात्मिक ज्ञान में अपनी सारी प्रगति खो देंगे। जो भगवान् विष्णु के दिव्य शरीर को भौतिक प्रकृति से निर्मित मानता है, वह भगवान् के चरणकमलों के प्रति घोर अपराधी है। परम पुरुषोत्तम भगवान् की इससे बढ़कर कोई निंदा नहीं। (*चैतन्य चरितामृत. आदि* ७.११४-१५)

यहाँ स्वयं को "ब्रह्मकुमार" कहने वाले नारद मुनि का मत यह है कि भक्ति नित्य एवं स्व-प्रकाशित है, तथा किन्हीं अन्य छोटे साधनों पर निर्भर नहीं। जब गम्भीर भक्त के प्रति ऐसी भक्तिमय सेवा का प्रकटीकरण होता है तो वह जान जाता है कि उसका (भक्ति का) स्वभाव भगवान् के ही सदृश है—सच्चिदानंद!

सूत्र ३१-३२

राजगृहभोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात्॥ ३१॥
न तेन राजपरितोषः क्षुच्छान्तिर्वा॥ ३२॥

राजगृह—महल; **भोजन**—भोजन; **आदिषु**—आदि; **तथा एव**—ठीक इस प्रकार; **दृष्टत्वात्**—उसके दिखने के कारण; **न**—नहीं; **तेन**—उसके द्वारा; **राज**—राजा का; **परितोषः**—संतोष; **क्षुत**—भूख; **शांतिः**—शांति; **वा**—अथवा।

अनुवाद

यह राजगृह और भोजनादि के उदाहरणों से उजागर है। राजा केवल राजमहल देखनेमात्र से ही संतुष्ट नहीं होता और न ही कोई भोजन देखने मात्र से अपनी भूख मिटा सकता है।

तात्पर्य

इन सांसारिक उदाहरणों द्वारा, नारद भक्ति का वास्तविक अनुभव समझने में

हमारी मदद करते हैं। नारद ने कहा है कि कुछ दार्शनिक सोचते हैं कि ज्ञान भक्ति के विकास का साधन है, जबकि अन्य कहते हैं कि ज्ञान एवं भक्ति परस्पराश्रित हैं। किन्तु नारद का निर्णय है कि *भक्ति* स्वयं अपना फल है। इसका अर्थ है कि भगवान् एवं उनके भक्तों का परस्पर अंतरंग आदान-प्रदान होने के नाते *भक्ति* किसी अन्य पद्धति पर आश्रित नहीं होती। केवल भगवान् के शुद्ध भक्त ही ऐसे आदान-प्रदान में प्रवेश करके इसे समझ सकते हैं।

नारद के उदाहरणों से *ज्ञान* (किताबी ज्ञान) तथा *विज्ञान* (अनुभव किया गया ज्ञान) का भेद उजागर होता है। ऐसे गुरु से सुनना विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है जिसके पास *विज्ञान* हो। हमें *विज्ञान* का अनुभव स्वयं करना होगा, किन्तु यदि गुरु आत्म-ज्ञानी न हो तो वह हमारा मार्गदर्शन कैसे कर सकता है? जिनके पास *गुह्यतम ज्ञान* हो, वही इसे दूसरों को दे सकते हैं। उदाहरणस्वरूप, ब्रह्माजी ने, जो प्रथम प्रबुद्ध जीव हैं, स्वयं भगवान् कृष्ण से वैदिक ज्ञान प्राप्त किया था। यदि कोई ब्रह्मा के अनुभव परक ज्ञान को गुरु-शिष्य परंपरा में किसी अनुभवी व्यक्ति से सुने, तो वह विज्ञान पाने का अधिकारी हो जायेगा।

विनम्र श्रवण के गुण पर बहुत कुछ निर्भर करता है। राजगृह और भोजनादि का उदाहरण देते हुए *नारद-भक्ति-सूत्र* के प्रस्तुत सूत्र हमें आध्यात्मिक जीवन पर एक उल्लेखनीय अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं। यदि हम संवेदनशीलता तथा श्रद्धा से सुनें, तो पूर्ण अनुभव के स्तर से पूर्व ही हमें उसका आभास होना आरंभ हो सकता है। हम सुनते हैं कि आध्यात्मिक पूर्णता घर लौटने जैसी होगी, और इसके प्रति हमारा आकर्षण बढ़ जाता है। व्यक्ति सोचता है, "हाँ, मैं भी घर जाना चाहूँगा; भगवद्धाम लौट जाना चाहूँगा।" श्रद्धायुक्त श्रवण से अनुभव हो सकता है। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं,

> परम पुरुषोत्तम भगवान्, उत्तमश्लोक, से संबंधित विषयों पर, गुरु बोलता है, एवं शिष्य सावधानीपूर्वक सुनता है... गुरु एवं शिष्य को कृष्ण से अधिक जानने की आवश्यकता नहीं क्योंकि बस कृष्ण को ही जानकर एवं कृष्ण के बारे में चर्चा करने से, व्यक्ति पूर्ण विद्वान बन जाता है। (*भागवत* १०.१.४ तात्पर्य)

वैदिक शास्त्रों में सर्वत्र कृष्ण के बारे में श्रवण करने पर अत्यधिक बल दिया गया है। श्रील प्रभुपाद कहते हैं, "जब भी भगवान् का अपराध-शून्य श्रवण एवं कीर्तन हो, यह जानना चाहिए कि दिव्य शब्दरूप में कृष्ण वहाँ उपस्थित हैं, जो व्यक्तिगत कृष्ण जितना ही शक्तिशाली है" (*भागवत्* १.२.१७, तात्पर्य) जब तक

इसका अनुभव स्वयं न हो, तब तक एक प्रामाणिक गुरु से श्रवण द्वारा उत्पन्न महाशुद्धि को समझा नहीं जा सकता। जैसे श्रील प्रभुपाद आगे लिखते हैं :

> मानवीय बुद्धि यह समझ नहीं पाती कि भक्त भागवत एवं ग्रंथ-भागवत की सेवा से कैसे भक्ति-पथ पर क्रमशः पदोन्नत होता जाता है। किन्तु वास्तव में ये उन श्रील नारददेव द्वारा वर्णित तथ्य हैं जो अपने पूर्वजन्म में एक दासीपुत्र थे। (*भागवत* १.२.१८, तात्पर्य)

प्रभावपूर्ण श्रवण के साथ साथ भगवान् एवं भगवद्-भक्त के प्रति समर्पण भी होना चाहिए। यह आरामकुर्सी की ग्राम्य-चर्चा नहीं है। व्यक्ति को परम तत्त्व में जिज्ञासा के प्रति गम्भीर, विनम्रता से श्रवण में तत्पर तथा विद्वान गुरु की सेवा में भी तत्पर होना चाहिए।

यहाँ राजा द्वारा महल को देखने तथा भूखे आदमी द्वारा भोजन को देखने की नारद द्वारा उद्धृत उपमाओं से यही निर्देश मिलता है कि भक्ति के पूर्ण आस्वादन हेतु भक्ति का संपूर्ण हृदय से अभ्यास आवश्यक है। अन्य पद्धतियाँ—*कर्म, ज्ञान* एवं *योग*—सु-अभ्यासित होने पर भी *कृष्ण-भक्ति* का स्वाद नहीं ला सकतीं। वे बकरी के गले के स्तनों के समान हैं, जो भले दिखते हैं परन्तु अथक प्रयास करने पर भी उनसे दूध नहीं निकाला जा सकता। न ही *भक्ति* के बाह्य ज्ञान से ही उसकी कोई वास्तविक समझ प्राप्त होगी। प्रभुपाद ऐसे विद्वानों की तुलना उन मधुमक्खियों से करना पसंद करते थे जो मधु की बोतल को बाहर से चाटती हों : इतनी शक्ति का व्यय, परंतु परिणाम कुछ नहीं!

भोजन का रूपकालंकार भी कृष्णभावनामृत प्राप्ति को समझने में हमारी मदद हेतु एक उपमा है :

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिर्
अन्यत्र चैष त्रिक एक-कालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः
पुष्टिः क्षुदापयोऽनुघासम्॥

"भक्ति, भगवान् का प्रत्यक्ष अनुभव, तथा अन्य वस्तुओं से विरक्ति—ये तीनों उसके लिए एक साथ आती हैं जिसने परम पुरुषोत्तम भगवान् का आश्रय ले लिया है, जैसे भोजन कर रहे व्यक्ति में प्रत्येक ग्रास के साथ बढ़ती हुई तुष्टि, पुष्टि एवं भूख से निवृत्ति साथ साथ होती है" (*भागवत* ११.२.४२)

श्रील प्रभुपाद कहा करते थे कि किसी को भी आपको यह प्रमाण-पत्र देने की आवश्यकता नहीं कि अब आप कृष्णभावनाभावित हो गए हैं। आप इसे स्वयं

जानेंगे, एवं वास्तव में, *केवल* आप ही इसे जान सकते हैं। इसी प्रकार, यदि आप भूखे हैं तथा आप भोजन द्वारा अपनी भूख मिटाना आरंभ करते हैं, तो किसी को आपको यह बताना नहीं पड़ेगा कि "अब तुम तृप्त हो।" अतः अत्यंत सुस्पष्ट उपमाएँ भी हमारे अनुभव से परे हमें प्रबुद्ध नहीं कर सकतीं। अंततः, हमें उसे स्वयं देखने के लिए आध्यात्मिक लोक में जाना होगा। १९६० के दशक में, वियतनाम युद्ध के समय, एक नए भक्त ने श्रील प्रभुपाद से पूछा, "कृष्णलोक में होना कैसा है?" श्रील प्रभुपाद ने उत्तर दिया, "वहाँ तुम्हें ड्राफ्ट बोर्ड (युद्ध में युवकों को भाग लेने पर बाध्य करने हेतु आयोग) परेशान नहीं करेगा।" यह उत्तर उस विशिष्ट भय से आक्रांत व्यक्ति हेतु उपयुक्त (एवं हास्यप्रद) था, किन्तु अवश्य ही कृष्णलोक 'ड्राफ्ट बोर्ड न होने' से कहीं अधिक बढ़कर है। कभी-कभी जब प्रभुपाद पर आध्यात्मिक जगत से संबंधित जिज्ञासाओं का दबाव पड़ता था तो वे उत्तर में कहते, "तुम वहाँ जाने पर जान जाओगे।"

उपसंहार यह है कि नारद एवं आचार्यगण हमें मानसिक स्तर से उठकर *भक्ति-योग* में वास्तविक रूप से भाग लेने का निमंत्रण दे रहे हैं—यदि हम उसकी यथार्थता जानना चाहें, एवं उसके फल—भगवद् धाम पुनर्गमन—का आस्वादन करना चाहें।

सूत्र ३३

अस्मात् सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ॥ ३३ ॥

अस्मात्—अतः; **सा**—वह; **एव**—एकमात्र; **ग्राह्या**—स्वीकार करनी चाहिए; **मुमुक्षुभिः**—मोक्ष के इच्छुकों के द्वारा।

अनुवाद

अतएव मोक्ष के इच्छुकों को केवल भक्तिमय सेवा ही ग्रहण करनी चाहिए।

तात्पर्य

जैसा *श्रीमद्भागवतम्* (१०.२.३२) में कथित है, जो मोक्ष की इच्छा करते हैं

किन्तु भक्तिमय सेवा में भगवान् का आश्रय नहीं लेते, वे यह सोच सकते हैं कि उन्होंने मुक्त होकर परम पद प्राप्त कर लिया है, परन्तु अंततः वे भौतिक क्रियाओं में गिर पड़ते हैं। क्योंकि निर्विशेषवादी चिंतक परम पुरुष से अपने प्रेममय संबंध का विकास करने से चूक जाता है, उसे ब्रह्म में अपनी स्थिति से लौटकर वापस इस भौतिक जगत में अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति हेतु आना पड़ता है। अतः नित्य मुक्ति, बारम्बार जन्म व मृत्यु से छुटकारा, केवल आध्यात्मिक जगत में ही प्राप्य है, जब कि व्यक्ति परम पुरुषोत्तम भगवान् की प्रेमपूर्ण भक्तिमय सेवा के अपने नित्य संबंध में प्रतिष्ठित हो जाता है।

पूर्व सूत्रों में नारद ने संकेत किया था कि शुद्ध भक्तिमय सेवा किसी पुरस्कार के, भले वह मोक्ष ही क्यों न हो, हेतु नहीं की जाती। चैतन्य महाप्रभु ने भी इस तथ्य को अपने *शिक्षाष्टक* (४) में व्यक्त किया था,

न धनं न जनं न सुन्दरीं
कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे
भवताद् भक्तिरहैतुकीत्वयि।।

"हे सर्वशक्तिमान प्रभु, मुझे धन-संग्रह की इच्छा नहीं, और न ही मैं सुन्दरियों का भोग अथवा अनेक अनुयायी चाहता हूँ। मैं तो बस जन्म-जन्मांतर तक आपकी अहैतुकी भक्तिमय सेवा की कामना करता हूँ।" "जन्म-जन्मांतर" कहने में चैतन्य महाप्रभु का संकेत है कि वे मोक्ष भी नहीं चाहते। जीवन के किसी भी क्षेत्र में वे केवल भगवान् की सतत सेवा तथा स्मरण चाहते हैं।

और तथापि, यद्यपि शुद्ध भक्त कभी *मुक्ति* की कामना नहीं करता, वह स्वतः उसे प्राप्त करता है। कृष्ण की इच्छा से वह, भगवान् के साथ अपने रस के अनुसार कृष्णलोक या किसी वैकुण्ठलोक में पदोन्नत होता है। या, नारद के समान, कृष्णभावनामृत का प्रचार करने हेतु वह भौतिक जगत में रहता है। श्रील प्रभुपाद कहते थे कि मुक्ति या मोक्ष का अर्थ चतुर्भुज एवं चतुर्मुख होना नहीं है। यदि कोई शुद्ध रूप से कृष्णभावनाभावित हो तो वह भौतिक जगत में रहकर भी पूर्ण मुक्त हो सकता है। जैसा श्रील रूप गोस्वामी अपने *भक्तिरसामृत सिन्धु* (१.२.१८७) में कहते हैं:

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।
निखिलाश्वप्यवस्थासु जीवनमुक्तः स उच्यते।।

"अपनी देह, मन, बुद्धि तथा वाणी से कृष्ण सेवा में लगा व्यक्ति भौतिक जगत में रहते हुए भी मुक्त पुरुष हैं, यद्यपि वह ऊपरी तौर से अनेक भौतिक क्रियाओं में संलग्न हो सकता है।"

अध्याय ३

प्राप्ति का साधन

सूत्र ३४

तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः ॥ ३४ ॥

तस्याः—उसका; **साधनानि**—विकास के साधन; **गायन्ति**—गाते है; **आचार्याः**—महान शिक्षक।

अनुवाद

आचार्यों ने भक्तिमय सेवा की प्राप्ति के साधन बताए हैं।

तात्पर्य

भक्तिमय सेवा की उच्चतम अवस्था, *परा भक्ति,* के सार का वर्णन करने के बाद, नारद अब उस अवस्था तक पहुँचने हेतु आवश्यक साधन बतलाते हैं। भक्ति के अभ्यास की अवस्था *साधन-भक्ति* कहलाती है। नारद ने पहले बताया था कि *भक्ति* स्वयं अपना साधन है, और वह किसी अन्य वस्तु पर, विशेषतः *ज्ञान* पर, आश्रित नहीं होती। और जैसा श्रील प्रभुपाद बताते हैं, *भक्ति* भक्त के अभ्यास पर भी आश्रित नहीं होती :

> कृष्णभावना केवल अभ्यास द्वारा जागृत नहीं की जा सकती। वास्तव में ऐसा कोई अभ्यास नहीं। जब हम भक्तिमय सेवा की अपनी आंतरिक सामर्थ्य के विकास की इच्छा करते हैं तो कुछ पद्धतियाँ हैं, जिनको स्वीकार करने तथा अनुशीलन करने से, वह सुप्त सामर्थ्य जागृत होती है। ऐसा अभ्यास *साधन-भक्ति* कहलाता है। (*भक्तिरसामृतसिन्धु पृ. २०*)

भक्ति के विधि-निषेध बद्ध जीव के उस पागलपन की चिकित्सा हेतु हैं जो उसके बंधन तथा कष्ट का कारण होता है। श्रील प्रभुपाद *भक्तिरसामृतसिन्धु (पृष्ठ*

२१) में लिखते हैं, "जैसे मनोचिकित्सक के निर्देशों द्वारा व्यक्ति की मानसिक बीमारी ठीक हो जाती है, वैसे ही *साधन-भक्ति* माया के प्रभाव में बद्धजीव का पागलपन ठीक करती है।"

नारद कहते हैं कि वे जिन पद्धतियों की शिक्षा देंगे वे आचार्यों द्वारा प्रदत्त हैं। *आचार्य* उसे कहते हैं जो शब्द एवं क्रिया, दोनों से शिक्षा देता हो। *भक्ति* की शिक्षा केवल वैष्णव आचार्यगण अथवा उनके प्रतिनिधि ही दे सकते हैं, भक्तों के स्वांग में निर्विशेषवादी अथवा तुलनात्मक धर्म के शिक्षक नहीं! नारद स्वयं महानतम आचार्यों में से एक हैं, अतः उनके अपने कथन पर्याप्त हैं। फिर भी, परम्परा का अनुसरण करते हुए, वे पूर्व आचार्यों को उद्धृत करते हैं तथा अपना निजी अनुभव भी बताते हैं। अतः सम्प्रदाय या विशिष्ट संस्थापकाचार्य से अनपेक्ष, उनकी शिक्षाएँ सबके द्वारा मान्य हैं। यहाँ नारद गायन्ति, "वे गाते हैं", शब्द प्रयोग करते हैं, क्योंकि आचार्यगण आनंदविभोर होकर भक्ति के सिद्धांत सिखाया करते हैं।

सूत्र ३५

तत्तु विषयत्यागात् संगत्यागाच्च॥ ३५॥

तत्—वह; **तु**—एवं; **विषय**—इंद्रियतृप्ति; **त्यागात्**—त्याग द्वारा; **संग**—(भौतिक) संग का; **त्यागात्**—त्याग द्वारा; **च**—एवं।

अनुवाद

भक्ति की प्राप्ति इंद्रियतृप्ति तथा भौतिक संग के त्याग से होती है।

तात्पर्य

इंद्रियतृप्ति की वस्तुओं को *विषय* कहते हैं, एवं इंद्रियतृप्ति में प्रवृत्त होने वाले को *विषयी* कहते हैं। विषयी भक्तिमय सेवा में सफल नहीं हो सकता। अतः आचार्यगण भोजन, मैथुन इत्यादि में निषेध निर्धारित करते हैं। नारद कहते हैं कि न केवल इंद्रिय भोग की बाह्य क्रियाओं को त्यागना चाहिए अपितु इंद्रिय भोग का विचार भी त्याग देना चाहिए। *संग-त्याग* शब्द निर्देश करता है कि मन एवं हृदय में भी इंद्रिय-विषयों के संग का त्याग कर देना चाहिए। सारे धर्मों के आचार्यों ने ऐसे *संग-त्याग* को इतना अधिक संस्तुत किया है कि इसकी आवश्यकता स्वयंसिद्ध

प्रतीत हो सकती है। किन्तु इसका अभ्यास सरल नहीं है। तथापि यदि हम *भक्ति-योग* में प्रगति करना चाहते हैं तो हमें इसका अभ्यास करना ही होगा। जैसा भगवान् कृष्ण कहते हैं, "हे पाण्डुपुत्र, जिसे त्याग कहते हैं उसे तुम *योग* के समान ही जानो, क्योंकि कोई इंद्रियतृप्ति की इच्छा का त्याग किए बिना *योगी* नहीं बन सकता" (*भ.गी.* ६.२)।

त्याग की कृष्णभावनामृत पद्धति मन एवं इंद्रियों को भक्तिमय सेवा में लगाना है। जैसे श्रील रूप गोस्वामी अपने *भक्तिरसामृतसिन्धु* (२.२५५) में कहते हैं,

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः।
निर्बन्धः कृष्ण-संबंधे युक्तं वैराग्यमुच्यते॥

"जब व्यक्ति किसी वस्तु के प्रति आसक्त न हो, किन्तु साथ ही साथ कृष्ण से संबंधित सबकुछ स्वीकार करे, तो वह वैरागी होता है।"

एक क्रियावान भक्त अपने वैराग्य में उससे अधिक पूर्ण है जो, कृष्ण से उनके संबंध के अज्ञान में, भौतिक वस्तुओं को त्याग देता है। युक्त-वैराग्य की यह पद्धति व्यक्ति को बहुत स्वतंत्रता दे देती है, किन्तु इसे सम्यक् रूप से संपन्न करना चाहिए। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "फिर भी, व्यक्ति को यह स्मरण रखना चाहिए कि सनक में संपन्न की गई क्रियाओं के फलों को भगवदर्पण नहीं करना चाहिए। उस प्रकार का कर्तव्य कृष्णभावना में भक्तिमय सेवा के अंतर्गत नहीं है। व्यक्ति को कृष्ण के आदेश, जो शिष्य परंपरा में आ रहे गुरु से प्राप्त होते हैं, के अनुसार कार्य करना चाहिए" (*भ. गी.* १८. ५७, तात्पर्य)। संक्षेप में, पापपूर्ण कर्म को "कृष्ण को सब अर्पण" करने की परिधि में नहीं लाया जा सकता। वास्तव में, श्रील प्रभुपाद शिष्यों को तब तक स्वीकार नहीं करते थे जब तक वे चार निषेधों—अवैध मैथुन नहीं, मद्यपान नहीं, जुआ नहीं, तथा मांस-भक्षण नहीं—का पालन स्वीकार न कर लें।

आध्यात्मिक जीवन में उच्च सुख की प्राप्ति कर पाने के कारण त्याग संभव है। जैसा कृष्ण *भगवद्गीता* (२.५९) में कहते हैं,

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

"यद्यपि शरीर में बद्ध जीव को इंद्रियतृप्ति से निषेधित किया जा सकता है, तथापि इंद्रिय विषयों का स्वाद तो रहता ही है। किन्तु उच्च स्वाद के अनुभव द्वारा ऐसी प्रवृत्तियों की रोकथाम से वह शुद्ध चेतना में स्थित हो जाता है।" इस श्लोक पर अपने तात्पर्य में, श्रील प्रभुपाद योगियों द्वारा इंद्रियभोग से निषेध की तुलना डाक्टर द्वारा रोगी हेतु किन्हीं विशेष प्रकार के खाद्यों के निषेध से करते हैं। इनमें से किसी में भी निषेधित सुख के स्वाद का लोप नहीं होता। "किन्तु", श्रील प्रभुपाद

लिखते हैं, "जिसने कृष्णभावनामृत में अपनी प्रगति के मध्य, कृष्ण के सौन्दर्य का स्वाद चख लिया है, उसे मृत, भौतिक वस्तुओं में स्वाद नहीं मिलता। अतः जीवन की आध्यात्मिक उन्नति में अल्पबुद्धि नौसिखियों के लिए ही निषेध होते हैं, किन्तु ऐसे निषेध कृष्णभावनामृत के प्रति स्वाद आने तक ही ठीक हैं।"

पूर्व में नारद ने कहा है कि आध्यात्मिक जीवन का वास्तविक अभ्यास एवं स्वयं उसके फलों का अनुभव किए बिना केवल उसके संबंध में सुनना या दूसरों को बताना पर्याप्त नहीं है। अतः *साधन-भक्त* यथार्थ में अभ्यास करता है—वह अपनी प्रतिज्ञाओं के बल पर कामुक आसक्तियों से बचता है, तथा कृष्ण भीतर से उसकी मदद करते हैं। अंततः वह उच्च स्वाद का आस्वादन करता है तथा उसकी इंद्रियतृप्ति की इच्छा छूट जाती है। *भक्ति योग*, दिव्य विज्ञान होने के नाते, सावधानीपूर्वक पालन करने पर अपेक्षित परिणाम देता है।

यहाँ नारद द्वारा *संग-त्यागात्* वाक्यांश का प्रयोग, श्रील रूप गोस्वामी कृत *उपदेशामृत* (३) में भी पाया जाता है। रूप गोस्वामी के अनुसार संग-त्याग, जिससे उनका तात्पर्य "अभक्तों के संग का त्याग करने" से है, शुद्ध भक्तिमय सेवा के पालन में सबसे महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं में से एक है। जब चैतन्य महाप्रभु से वैष्णव की परिभाषा देने को कहा गया था, तो उन्होंने उत्तर दिया था, *असत्-संग-त्याग—एई वैष्णव आचार :* "विशेषतः, सांसारिक लोगों के, अर्थात् अभक्तों के संग का त्याग करने वाला ही वैष्णव है" (*चै.च.मध्य*. २२.८७)। जिस प्रकार *असत्-संग* हमारी भौतिक आसक्ति बढ़ाता है तथा हमारी भक्तिमय सेवा में विघ्न पहुँचाता है, उसी प्रकार *साधु-संग* हमें भगवान् कृष्ण से जुड़ने तथा अभक्तों की क्रियाओं से विलग होने में मदद करके हमारी भक्तिमय सेवा में वृद्धि करता है।

श्रीमद्भागवतम् में भगवान् कपिल अपनी माँ, देवहूति, को परामर्श देते हैं कि जबकि भौतिक आसक्ति आत्मा के लिए सर्वाधिक बंधन है, "वही आसक्ति, आत्म-ज्ञानी भक्तों के प्रति होने पर, मुक्ति का द्वार खोल देती है" (*भागवत*, ३.२५.२०)। अपने तात्पर्य में श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "यह संकेत करता है कि आसक्ति की प्रवणता को रोका नहीं जा सकता, उसे सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य हेतु लगाना चाहिए। भौतिक वस्तुओं के प्रति हमारी आसक्ति हमारी बद्ध स्थिति को बढ़ाती है, परन्तु वही आसक्ति जब परम पुरुषोत्तम भगवान् या उनके भक्त में स्थानांतरित कर दी जाती है, तो मुक्ति का स्रोत बन जाती है।"

इस सूत्र में प्रार्थी भक्त हेतु कठोर आदेश है : "यदि तुम *भक्ति* में उन्नति करना चाहते हो, तो तुम्हें इंद्रियतृप्ति तथा भौतिक संग का त्याग करना होगा।" अपने *भगवद्गीता* तात्पर्यों में, श्रील प्रभुपाद हमें बताते हैं कि हम ऐसे आदेशों को किस

प्रकार समझें : "भगवान् निर्देश देते हैं कि कर्तव्यों के सम्पादन में व्यक्ति को पूर्ण कृष्णभावनाभावित होना चाहिए, जैसा सैन्य अनुशासन में होता है। ऐसे आदेश से थोड़ी कठिनाई हो सकती है, तथापि, कृष्ण पर निर्भरता के साथ कर्तव्य करते रहना चाहिए, क्योंकि वही जीव की स्वरूपस्थिति है" (*भ. गी.* ३.३०, तात्पर्य)। इन आदेशों के पालन में आलस्य को दूर फेंक देना चाहिए। इसका विकल्प जन्म जन्मांतर आत्मा के निकृष्ट योनियों में पतन के कारण होने वाला, हमारी कल्पनातीत, महान दुख है।

सूत्र ३६

अव्यावृत्तभजनात्॥ ३६॥

अव्यावृत्त—सतत, **भजनात्**—भजन से।

अनुवाद

सतत भगवद्-भजन से भक्ति की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य

नारद ने एक नकारात्मक आदेश दिया है—मन व इंद्रियों का निग्रह; वे अब मन व इंद्रियों को कृष्णभावनामृत में संलग्न करने की सकारात्मक पद्धति दे रहे हैं। श्रील प्रभुपाद कृष्णभावनाभावित क्रिया की तुलना एक लोहे की छड़ को आग में डालने से करते थे। जैसे जैसे छड़ स्थिरता से लपटों में रहती है, वह अधिकाधिक गरम हो जाती है तथा अंत में अग्निमय हो जाती है। इसी प्रकार कृष्णभावनामृत में स्थिरता से नियोजित भक्त क्रमशः परिवर्तित हो जाता है, एवं अंततः पूर्ण कृष्णभावनाभावित हो जाता है। यदि कोई कृष्ण की सेवा में पूर्णतः डूबा हो, तो माया की गतिविधियों की संभावना नहीं रह जाती।

श्रीमद्भागवतम् (१.२.६) भी सतत भक्तिमय सेवा की संस्तुति करती है :

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥

"सारी मानवता हेतु परम धर्म वह है जिसके द्वारा व्यक्ति को अगोचर प्रभु के प्रति प्रेमपूर्ण भक्तिमय सेवा की प्राप्ति हो। ऐसी भक्तिमय सेवा आत्मा को पूर्ण तृप्ति देने के लिए अहैतुकी तथा अविच्छिन्न होनी चाहिए।"

इस सूत्र में नारद *भजन* शब्द का प्रयोग करते हैं, जो कुछ भिन्न रूप में *भगवद्गीता* (६.४७) में भी आता है। *गीता* के छठे अध्याय में अष्टांग-योग पर अपने निर्देशों की समाप्ति करते हुए, भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जो उन्हें भक्ति एवं श्रद्धा से सेवित करता है (*श्रद्धावान् भजते यो माम्*), वही परम योगी है। श्रील प्रभुपाद वर्णन करते हैं कि *भज* शब्द का अर्थ "सेवा" है :

> प्रेम तथा श्रद्धा से सेवा विशेष रूप से परम पुरुषोत्तम भगवान् के लिए है। किसी सम्माननीय व्यक्ति या देवता की पूजा से बचने वाला असाधु कहा जा सकता है, किन्तु भगवान् की सेवा से बचने वाला घोर भर्त्सना का पात्र है। (*भ. गी.* ६.४७, तात्पर्य)

यह लेखांश निर्देश करता है कि भक्ति कुछ गिने-चुने लोगों हेतु आध्यात्मिक मनोरंजन नहीं है, अपितु यह सभी के लिए है, तथा घोर परिणामों के बिना इससे बचा नहीं जा सकता।

नारद कहते हैं कि *भक्ति* सतत प्रेमपूर्ण सेवा से प्राप्त होती है। किन्तु क्या उनका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को त्रुटिरहित होना चाहिए, एवं उसे कभी मार्ग में फिसलना नहीं चाहिए? नहीं, यदि कोई उनकी सेवा में दृढ हो तो भगवान् कृष्ण त्रुटियों को अनदेखा कर देते हैं। *गीता* के नवें अध्याय में वे कहते हैं,

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

"यदि कोई घोर जघन्य कर्म भी करे, किन्तु भक्तिमय सेवा में संलग्न हो तो उसे साधु ही मानना चाहिए क्योंकि वह अपनी दृढ़ता में ठीक से स्थिर है।" (*भ.गी.* ९.३०) फिर भी, श्रील प्रभुपाद, हमें सतर्क करते हैं कि हमें इस कथन का लाभ उठाते हुए यह नहीं सोचना चाहिए कि हम जानबूझकर भक्तिमय जीवन के नियमों को भंग करके भी भक्त बने रह सकते हैं। यहाँ भगवान् द्वारा व्यक्त आशीर्वाद यह है कि यदि हम गुरु एवं कृष्ण की सेवा में दृढ़ता से लगे रहें—विशेषतः *हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे* के जप द्वारा—तब भगवान् कृष्ण हमारी अपूर्णताओं के बावजूद हमें अपने भक्त के रूप में स्वीकार करेंगे।

किन्तु कृष्णभावनामृत में सदैव व्यस्त रहने, तथा ऊब जाने अथवा अधीर होने से बचने हेतु ठीक ठीक क्या करना होगा? प्रह्लाद महाराज ने भगवद्सेवा में पूर्ण संलग्नता बनाए रखने हेतु *नवधा भक्ति* की शिक्षा दी थी : (१) भगवान् के बारे में श्रवण, (२) उनके नाम तथा गुणों का कीर्तन, (३) उनका स्मरण, (४) उनके

पादपद्मों का सेवन, (५) विग्रह - अर्चन, (६) भगवान् का वंदन, (७) उनका दास बनना, (८) उनका सखा बनना एवं (९) उनके प्रति सब कुछ समर्पण कर देना। जबकि इन पद्धतियों में से प्रथम दो अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं, उनमें से कोई एक भी पूर्णता की प्राप्ति हेतु पर्याप्त है। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं :

> प्रह्लाद महाराज द्वारा प्रवर्तित सभी नौ भिन्न पद्धतियाँ, जो उन्होंने नारद मुनि से सीखी थीं, भक्तिमय सेवा के अनुशीलन हेतु आवश्यक नहीं भी हो सकतीं; यदि भक्त इन नौं में से केवल एक का ही एकनिष्ठता से पालन करे, तो वह परम पुरुषोत्तम भगवान् की कृपा प्राप्त कर सकता है। (*भागवत* ७.५.२४, तात्पर्य)

१९६८ के वर्ष के पूर्वार्ध में मैने श्रील प्रभुपाद को पत्र लिखा कि मैं यह निर्णय करने में असमर्थ हूँ कि किसी एक समय में मैं कौन सी सेवा करूँ। क्या मैं बर्तन साफ करूँ या हरे कृष्ण जप करूँ? प्रभुपाद ने उत्तर दिया :

> पवित्र नामजप में तथा मंदिर के बर्तन धोने में कोई अंतर नहीं। इसलिए मंदिर का अन्य कार्य करते हुए तुम चिंतित मत हो। दिव्य क्रियाओं में विविधता होती है। कभी हमें जप करने की इच्छा होती है तो कभी हम बर्तन धोना चाहते हैं। परम स्तर पर इनमें कोई अंतर नहीं।

सूत्र ३७

लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात्॥ ३७॥

लोके—जगत में; **अपि**—यद्यपि; **भगवत्**—भगवान् का; **गुण**—गुणों का; **श्रवण**—श्रवण; **कीर्तनात्**—और कीर्तन।

अनुवाद

इस जगत के जीवन की सामान्य क्रियाओं में संलग्न रहते हुए भी भगवान् के विशेष गुणों के श्रवण तथा कीर्तन द्वारा भक्ति की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य

कोई कह सकता है कि नारद "सतत प्रेमपूर्ण सेवा" का प्रवर्तन करने में

अविवेकपूर्ण हैं। संसार के कर्तव्यों को निभाने में व्यस्त व्यक्ति कैसे सतत भजन कर सकते हैं? किन्तु नारद, अन्य आचार्यों के समान, सांसारिक स्थिति एवं जीव की दशा से भलीभाँति परिचित हैं। अतः वे सब मनुष्यों हेतु सब समय के लिए *श्रवणं कीर्तनम्* का प्रस्ताव रखते हैं। संसार में व्यस्त कृष्णभावनाभावित भक्त का ज्वलंत उदाहरण कृष्ण के सखा, अर्जुन, हैं। और ये भगवान् कृष्ण स्वयं ही थे जिन्होंने बल दिया था कि अर्जुन ध्यान करने हेतु रणभूमि छोड़ कर न जाये :

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः॥

"अतः, अर्जुन, तुम कृष्ण के रूप में मेरा सदैव चिंतन करो तथा इसके साथ साथ युद्ध के अपने कर्तव्य को भी निभाओ। मुझको समर्पित अपनी क्रियाओं तथा मुझ पर स्थित तुम्हारे मन एवं बुद्धि द्वारा, तुम निस्संदेह मुझे प्राप्त करोगे" (*भ.गी.* ८.७)।

श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "भगवान् कभी अव्यावहारिक वस्तु का परामर्श नहीं देते... यदि अर्जुन अस्तित्व हेतु संघर्ष करता हुआ कृष्ण के स्मरण का अभ्यास नहीं करेगा, तो उसके लिए मृत्यु के समय पर कृष्ण का स्मरण करना संभव नहीं हो पायेगा" (*भ.गी.* परिचय) चैतन्य महाप्रभु भी परामर्श देते हैं, *कीर्तनीयः सदा हरिः* "सदा हरिनाम का कीर्तन करो।"

फिर भी प्रश्न रहता है, कार्यवान व्यक्ति किस प्रकार दोनों कर्तव्यों—कार्य एवं भजन—एक साथ कर सकता है? किन्तु यह संभव है, प्रेम के द्वारा। प्रभुपाद एक व्यक्ति का उदाहरण देते थे जो दफ्तर में काम करने जाये जबकि घर पर उसका युवापुत्र बहुत बीमार हो। स्वाभाविक प्रेमवश वह व्यक्ति सदा यही सोचेगा कि, "बेटा कैसा होगा?" आचार्यों द्वारा दिया गया एक अन्य उदाहरण एक विवाहिता स्त्री की परपुरुष के प्रति आसक्ति से संबद्ध है। अपने घरेलू कामकाज करते हुए भी पत्नी सदा अपने प्रेमी के बारे में सोचती है। वास्तव में, वह अपने घर का काम और भी सावधानी-पूर्वक करती है जिससे उसके पति को कहीं उसपर संदेह न हो जाये। इसी प्रकार अपने भौतिक कर्तव्यों का कुशलता से पालन करते हुए भी हमें सदैव परम प्रेमी, श्रीकृष्ण, का स्मरण करना चाहिए। यदि हम कहें, "किन्तु मैं कृष्ण के प्रति गाढ़ प्रेम से रहित हूँ", तो *वैधी-भक्ति* ही एकमात्र समाधान है। भक्ति की इस प्रशिक्षण अवस्था का उद्देश्य ही हमारा आदि भगवत्प्रेम प्रस्फुटित करना है, जिस प्रकार माचिस की तीली घिसने से अग्नि प्रस्फुटित होती है। एवं समस्त भक्तिमय अभ्यासों में, *श्रवणं कीर्तनं विष्णुः* (भगवान् का श्रवण-कीर्तन) अग्रणीय है।

कोई भी ईमानदारी से यह नहीं कह सकता कि *श्रवणं कीर्तनं* के लिए उसके

पास एकदम समय नहीं है। व्यस्त से व्यस्त लोग भी प्रतिदिन समाचार-पत्रों तथा पत्रिकाओं हेतु समय निकाल लेते हैं, एवं प्रायः सभी लोगों को दूरदर्शन देखने तथा गपशप का समय मिल जाता है। इसमें से बहुत सा समय भक्ति-योग हेतु बचाया जा सकता है। एवं जब हम दफ्तर या फेक्टरी में कार्यरत होत हुए भी कृष्ण को अपनी आय का एक अंश दान करते हों तो हम सोच सकते हैं, "कृष्ण ने मुझे यह विशिष्ट सेवा दी है।"

यदि अथक प्रयासों के बावजूद भी भक्त को अपने सामाजिक तथा व्यावसायिक कर्तव्य दुष्कर प्रतीत होते हैं, तो उसे भिन्न प्रकार का जीवनयापन करने का विचार करना चाहिए। व्यक्ति को *उग्र-कर्म* अर्थात उस कामधंधे से बचना चाहिए जो उसकी सारी उच्च शक्ति तथा पुण्य प्रवृत्ति निचोड़ ले। *श्रीमद्भागवतम्* में, नारद मुनि ने महाराज युधिष्ठिर को परामर्श दिया था कि व्यक्ति को "अपनी देह तथा आत्मा को संयुक्त रखने को पर्याप्त जितना ही कमाना चाहिए... मानव समाज में चतुर व्यक्ति को अपनी दिनचर्या अतीव सादी रखनी चाहिए" (*भागवत* ७.१४.५-६)।

श्रील प्रभुपाद, जिन्होंने कृष्णभावनाभावित व्यवसायी के रुप में अनेक वर्षों तक कार्य किया था, इस समस्या का यथार्थ समाधान सुझाते थे। वे कहते थे कि सारी क्रियाएँ बंद करने का प्रश्न उसी प्रकार नहीं उठता जिस प्रकार ज्वर से मुक्त होने हेतु शरीर का संपूर्ण तापमान नष्ट कर देने का प्रश्न नहीं। यदि व्यक्ति को १०५ डिग्री ज्वर है तो उस तापमान को धीरे धीरे घटा कर ९८.६ डिग्री तक लाकर उसे वहीं स्थिर कर देना होगा। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "भारत के महान ऋषिगण तथा संतजन भौतिक तथा पारमार्थिक ज्ञान के संतुलित कार्यक्रम द्वारा सामान्य तापमान बनाए रखना चाहते थे। वे दूषित इंद्रियतृप्ति हेतु मानव बुद्धि के अव्यय की अनुमति नहीं देते थे" (*ईशोपनिषद् ११*, तात्पर्य)। अधिकतर लोग धर्म को सहयोगी क्रिया के रुप में रख छोड़कर, इंद्रियतृप्ति तथा आर्थिक उन्नति को सर्वोच्च प्राथमिकता देते हैं। किन्तु यथार्थ धर्म—आत्म-ज्ञान—सर्वप्रथम आना चाहिए। शरीर को हृष्ट-पुष्ट रखने के लिए ही आर्थिक उन्नति की आवश्यकता है।

कलियुग में लोगों की कष्टकर स्थिति समझते हुए, भगवान् ने *युग-धर्म* के रुप में हमें पवित्र नामों का उच्चारण (कीर्तन) दिया है :

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

"इस कपट और कलह के युग में, मुक्ति का एकमात्र उपाय हरिनाम लेना ही है। कोई अन्य उपाय नहीं है, नहीं है, नहीं है" (*बृहन्नारदीय पुराण*)।

श्रील प्रभुपाद ने *युगधर्म* एवं प्रस्तुत सूत्र में नारद मुनि के निर्देशों पर आधारित

अंतर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत की संस्थापना की। विश्वभर में, प्रभुपाद के अनेक अनुयायी प्रतिदिन *हरे कृष्ण महामंत्र* की सोलह मालाएँ जपते हैं, कीर्तन एवं प्रवचन के सुबह-शाम के कार्यक्रम में भाग लेते हैं, तथा पापपूर्ण जीवन के चार निषेधों का पालन—सक्रिय व्यावसायिक धंधे करते हुए भी—करते हैं। भगवान् कृष्ण ने व्यक्तिगत रुप से नारद से प्रतिज्ञा की है कि उनके गुणों का कीर्तनकारी कोई भी व्यक्ति, सामाजिक या व्यावसायिक अवस्था के बावजूद, उनकी कृपा प्राप्त करेगा :

नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे योगिनां हृदयेषु वा।
यत्र गायन्ति मद्भक्ता तत्र तिष्ठामि नारद॥

"मेरे प्रिय नारद, मैं वैकुण्ठ अथवा योगियों के हृदयों में नहीं रहता, अपितु वहाँ रहता हूँ जहाँ मेरे भक्त मेरा कीर्तन करते हों" (*पद्म पुराण*)।

सूत्र ३८

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा॥ ३८॥

मुख्यतः—मुख्य रुप से; **तु**—किन्तु; **महत्**—महात्माओं की; **कृपया**—कृपा से; **एव**—अवश्य; **भगवत्**—भगवान् की; **कृपा**—कृपा का; **लेषात्**—लेष से; **वा**—अथवा।

अनुवाद

किन्तु मुख्यतः भक्ति महात्माओं की कृपा से अथवा भगवान् की लेशमात्र कृपा से प्राप्त होती है।

तात्पर्य

नारद ने *साधक* के लिए मुख्य अभ्यासों का वर्णन कर दिया है। अब वे इस बात पर महत्त्व देते हैं कि भक्त केवल अपने प्रयास के बल पर सफल नहीं हो सकता, अपितु तभी सफल हो सकता है जब उसे कृष्ण के प्रतिनिधि की कृपा अथवा लेशमात्र सीधी भगवद्-कृपा प्राप्त हो।

साधु-संग के बिना *भक्ति* दूर रहती है। किन्तु *साधु* कौन है? श्रील प्रभुपाद व्याख्या करते हैं :

> गेरुए वस्त्र या लम्बी दाड़ी वाला सामान्य व्यक्ति *साधु* नहीं होता। *भगवद्गीता* में भक्तिमय सेवा में दृढ़ता से संलग्न व्यक्ति को *साधु* कहा गया है। वह भक्तिमय सेवा के कठोर विधि-निषेधों का पालन भी करता हो,

किन्तु यदि परम पुरुष कृष्ण में उसका दृढ़ विश्वास हो, तो उसे साधु समझना चाहिए... यदि व्यक्ति *साधु* का संग करे, तो परिणाम यह होगा कि *साधु* उसे भगवान् का भक्त, पूजक एवं गम्भीर सेवक बनने की शिक्षा देगा। यही *साधु* के उपहार होते हैं। (*भागवत* ३.२५.२०, तात्पर्य)

चैतन्य-चरितामृत तथा *भक्तिरसामृतसिन्धु* कहते हैं कि भक्तिमय सेवा में प्रगति हेतु गुरु को स्वीकार करना अनिवार्य है। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं :

> अपने माता-पिता की सावधानीपूर्वक सेवा के बिना, बालक मर्द नहीं बन सकता, इसी प्रकार, गुरु के संरक्षण बिना व्यक्ति दिव्य सेवा के स्तर तक नहीं पहुँच सकता... व्यक्ति को यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि जो व्यक्ति गुरु स्वीकारना तथा दीक्षित होना न चाहे, वह भगवद्-धाम जाने के अपने प्रयास में अवश्य विफल होगा। (*चै.च.आदि.* १.४६, तात्पर्य, तथा १.३५, तात्पर्य)

और इस प्रकार गुरुओं की कृपा से, नारद द्वारा सिखाई गईं पूर्वोक्त समस्त साधनाएँ—पवित्र नामों का श्रवण-कीर्तन, इंद्रिय-तृप्ति वर्जन, इत्यादि—भक्तों की सेवा करने वाले एवं उनसे जिज्ञासा करने वाले व्यक्ति द्वारा स्वाभाविक रूप से संपन्न होंगी।

वैष्णवों की मदद से, तथा भगवान् के प्रत्यक्ष मार्गदर्शन से भी, बद्ध जीवों को भक्ति के मार्ग पर लाया जाता है। *हरिं विना नैव सृतिं तरन्ति* – "परम पुरुषोत्तम भगवान्, श्री हरि, के आशीर्वाद बिना इस भौतिक जगत में जन्म एवं मत्यु की सतत श्रृंखला समाप्त नहीं हो सकती।" भगवान् कृष्ण, सबके हृदय में परमात्मा रूप से स्थित, हमारा प्रत्यक्ष मार्गदर्शन करते हैं। जब कोई आत्मा आध्यात्मिक मार्गदर्शन हेतु क्रंदन करती है, तो भगवान् चैत्य-गुरु (हृदय में स्थित गुरु) के रूप से प्रत्यक्ष प्रेरणा देते हैं। कृष्ण कहते हैं,

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

"उन पर विशेष कृपा करने हेतु, मैं, उनके हृदयों में रहते हुए, अज्ञानजन्य अंधकार को प्रकाशमान ज्ञानदीप द्वारा नष्ट कर देता हूँ" (*भ.गी.* १०.११)।

इससे पूर्व श्लोक (*भ.गी.* १०.१०) के तात्पर्य में, श्रील प्रभुपाद व्याख्या करते हैं, "व्यक्ति के पास प्रामाणिक गुरु हो सकता है तथा वह किसी आध्यात्मिक संस्था से जुड़ा हो सकता है, किन्तु तथापि, यदि वह उन्नति करने में बुद्धिमान न हो, तो कृष्ण अंतर से उसे निर्देश देते हैं जिससे वह बिना कठिनाई के अंततः उनके पास

आ सके।"

अतएव भगवद्-कृपा शिक्षा-गुरुओं तथा अंतर्यामी परमात्मा, दोनों के रूप में उपलब्ध होती है। बद्ध प्राणी के जीवन में गुरु का प्राकट्य भगवान् की प्रत्यक्ष कृपा होती है। प्रभुपाद लिखते हैं कि "महान ऋषि शुकदेव गोस्वामी भगवान् कृष्ण की प्रेरणा से ही महान भगवद्-भक्त, महाराज परीक्षित, के समक्ष उन्हें *श्रीमद्भागवतम्* की शिक्षाऐं देने हेतु स्वेच्छापूर्वक प्रकट हुए थे।" (*भागवत* १.१९.३६)

यह वास्तव में भगवान् की कृपा का चिन्ह है कि व्यक्ति का उनके शुद्ध प्रतिनिधि, प्रामाणिक गुरु से मिलना हो। किन्तु इसका प्रभाव व्यक्ति की गम्भीरता पर निर्भर करता है। जैसे ही भगवान् को पता लगता है कि कोई जीव भगवद्-धाम लौटने को उत्सुक है, तो भगवान् एक प्रामाणिक गुरु भेज देते हैं, और यदि व्यक्ति ऐसे गुरु के निर्देशों का पूरा लाभ उठाता है, तो उसकी सफलता पक्की है। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "उपसंहार यह है कि प्रामाणिक गुरु की सहायता मिलने का तात्पर्य *स्वयं भगवान् की प्रत्यक्ष सहायता मिलना है*।" (*भागवत* १.१९.३६, तात्पर्य)

सूत्र ३९

महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥ ३९ ॥

महत—महात्माओं का, **संगः**—संग, **तु**—किन्तु, **दुर्लभः**—दुर्लभ, **अगम्यः**—समझने में कठिन, **अमोघः**—अमोघ, **च**—भी।

अनुवाद

महात्माओं का संग दुर्लभ, समझने में कठिन, तथा अमोघ है।

तात्पर्य

श्रील रूप गोस्वामी को अपने निर्देशों में (*चै.च.मध्य.* १९.१३८.४८), चैतन्य महाप्रभु शुद्ध भक्त की संगति की दुर्लभता का विस्तृत वर्णन करते हैं। महाप्रभु रूप गोस्वामी को बताते हैं कि चौरासी लाख योनियों में अनेक प्राणी हैं, एवं ये सब प्राणी इस ब्रह्माण्ड के एक देह से दूसरी देह, एक लोक से दूसरे लोक, में घूम रहे हैं। मनुष्य शरीरों में घूमने वाले थोड़े से प्राणियों को असभ्य तथा सभ्य में विभाजित किया जा सकता है—क्रमशः जो वैदिक सिद्धांतों के विषय में अनभिज्ञ या अभिज्ञ

हों। वैदिक सिद्धांतों के जानकारों में से लगभग आधे लोग इन सिद्धांतों को भंग करने में सब प्रकार के पापकर्म करते हुए इन सिद्धार्तो की बस मुख-सेवा ही करते हैं। वैदिक सिद्धांतों के वास्तविक पालनकर्ताओं में से, अधिकतर लोग स्वर्गगमन, अच्छे जन्म या धन जैसे भौतिक पुरस्कारों के इच्छुक होते हैं। वैदिक निर्देशों के लाखों पुण्यवान अनुयायियों में से, कोई एक व्यक्ति यथार्थ *ज्ञानी* हो सकता है। ऐसे लाखों ज्ञानियों में से, चैतन्य महाप्रभु कहते हैं, कोई एक व्यक्ति जन्म-मृत्यु से मुक्त हो सकता है, एवं ऐसे लाखों मुक्त व्यक्तियों में से भगवद्-भक्त मिलना अत्यंत कठिन है।

भगवान् कृष्ण भी यही कहते हैं :

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

"सहस्रों मनुष्यों में से कोई एक व्यक्ति सिद्धि का प्रयास कर सकता है, एवं सिद्धि प्राप्त करने वालों में से कोई ही मुझे तत्त्व से जानता है।" (*भ.गी.* ७.३)। इससे निर्देशित होता है कि ब्रह्मज्ञानी भी परम पुरुषोत्तम भगवान् को नहीं जान पाते। अतः हमें इसके संबंध में भ्रमित नहीं होना चाहिए कि "महात्मा" कौन है अथवा यह नहीं सोचना चाहिए कि कोई भी "स्वामी" या "गुरु" हमें भौतिक बंधन से मुक्त कर पायेगा। जैसा *श्रीमद्भागवतम्* (६.१४.५) कहती है,

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रसन्नात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

"हे महर्षि, अज्ञानरहित लाखों मुक्तों में, तथा लाखों प्रायः सिद्ध हुए मनुष्यों में, कोई एक व्यक्ति ही नारायण का शुद्ध भक्त होता है। केवल ऐसा ही भक्त वास्तव में पूर्ण संतुष्ट व शांत होता है।"

महात्मागण जब मानव समाज में प्रकट भी हों तो बहुधा उन्हें सराहा या समझा नहीं जाता। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं,

> कभी-कभी भक्तों पर व्यक्तिगत रूप से हिंसात्मक अत्याचार किया जाता है। ईसामसीह को सूली पर चढ़ा दिया गया, हरिदास ठाकुर को वाईस बाज़ारों में बेंत मारे गए, तथा चैतन्य महाप्रभु के प्रधान सहायक, नित्यानंद, पर जगाई-मधाई द्वारा प्रहार किया गया... यद्यपि साधु किसी का शत्रु नहीं होता, तथापि संसार इतना कृतघ्न है कि साधु के भी कई शत्रु हो जाते हैं। (*भागवत* ३.२५.२१, तात्पर्य)

किन्तु यदि व्यक्ति किसी महात्मा का संग पाये तथा उनके आंशीर्वादों को ग्रहण

करे, तो वह अनिवार्य रूप से लाभान्वित होगा। नारद ऐसे *महात्मा* के उत्कृष्ट उदाहरण हैं जिन्होंने कईयों का जीवन बदला। उन्होंने एक बार मृगारि नामक एक व्याध को शुद्ध वैष्णव में बदल दिया। मृगारि इतना निर्दयी था कि वह पशुओं को अधमरा छोड़ देता था क्योंकि उसे उनके कष्ट में आनंद आता था। किन्तु जब वह नारद से मिला तथा उनसे श्रवण करने लगा, तो मृगारि अपने पापों से भयभीत हो गया। नारद ने उसको सांत्वना दी, "यदि तुम मेरे निर्देशों का पालन करो, तो तुम मुक्त हो सकते है।" नारद ने तब मृगारि को *हरे कृष्ण महामंत्र* के जप द्वारा भगवान् कृष्ण के भजन का निर्देश दिया। *महात्मा* कभी नहीं कहता कि "मुझमें शरणागत होओ", अपितु वे सभी को परम पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के शरणागत होने का परामर्श देता है। यही उसकी अमोघता है।

वैष्णवों की शक्ति की अभिव्यक्ति *गौरांगेर भक्तगणि जनि जनि शक्ति धरे:* "भगवान् चैतन्य महाप्रभु के भक्तगण बहुत शक्तिमान होते हैं, एवं उनमें से प्रत्येक पूरे संसार को तार सकता है।"—इस बंगला गीत में हुई है। किन्तु शिष्य को भी अपनी भूमिका निभानी होती है। वैष्णव की कृपा पाकर व्यक्ति को अपनी पापपूर्ण क्रियाओं को छोड़ना स्वीकार करना चाहिए। तब गुरु उसका संरक्षण कर सकता है तथा उसे आध्यात्मिक मुक्ति तक पहुँचा सकता है। जो भक्तगण नारद मुनि जैसे *परमहंस* के स्तर पर न भी हों, किन्तु दृढ़ता से उनकी शिष्य परंपरा में अनुसरण करते हों, तो वे भी अमोघ ज्ञान प्रदान कर सकते हैं। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं :

> नारद मुनि से आ रही शिष्य परंपरा में होने से गुरु नारद मुनि की ही श्रेणी में होते हैं। यदि व्यक्ति नारद मुनि का प्रतिनिधित्व करने वाले किसी व्यक्ति के पादपद्मों के प्रति समर्पण करे तो वह अपने पाप कर्मों से त्राण पा सकता है। (*चै.च. मध्य* २४.२५८, तात्पर्य)

महात्मा की शक्ति का एक और प्रमाण अभक्तों को संत बना देने की उसकी सामर्थ्य है। श्रील भक्ति-विनोद ठाकुर कहते हैं कि वैष्णव की परीक्षा यह देखकर हो सकती है कि वह कितना अच्छा "पारस पत्थर" है—उसने अपने जीवन में कितने वैष्णव बनाएँ हैं। चैतन्य महाप्रभु चाहते थे कि नारद मुनि तथा अन्य महान आचार्यों के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए अधिक से अधिक संभव लोग कृष्ण के संदेश को दोहरायें एवं उन्हें कृष्णभावनामृत ग्रहण करने को आश्वस्त करें।

उपसंहार यह है कि महात्मा का संग बहुत दुर्लभ होते हुए भी, गम्भीर अन्वेषक को उपलब्ध है। महात्मा से मिलकर, व्यक्ति को अपने सौभाग्य की सराहना करनी चाहिए, तथा प्रसन्नचित्त होकर गम्भीरतापूर्वक उनके चरणकमलों में शरणागत

हो जाना चाहिए। महात्मा से मिलने पर उसका सम्मान करने की विधि सनातन गोस्वामी को, चैतन्य महाप्रभु द्वार उक्त, *हरि-भक्ति-सुधोदय* (१३.२) के निम्नलिखित कथन में स्पष्ट है :

> मेरे प्रिय वैष्णव, आप जैसे व्यक्ति का दर्शन नेत्रों की पूर्णता है, आपके चरणकमलों का स्पर्श स्पर्शेन्द्रिय की पूर्णता है, एवं आपके सद्गुणों का कीर्तन जिह्वा का यथार्थ कार्य है, क्योंकि भौतिक जगत में भगवान् का शुद्ध भक्त मिलना अत्यंत कठिन है।

सूत्र ४०

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव॥ ४०॥

लभ्यते—उसका लाभ होता है; **अपि**—तथापि; **तत्**—उनकी (भगवान् की); **कृपया**—कृपा द्वारा; **एव**—एकमात्र।

अनुवाद

महात्माओं का संग केवल भगवद्-कृपा द्वारा ही मिलता है।

तात्पर्य

यद्यपि शुद्ध भक्त संसार में दुर्लभ है, तथापि भगवान् सच्चे सत्य-अन्वेषक की सीधी सहायता करते हैं। जैसा चैतन्य महाप्रभु ने श्रील रूप गोस्वामी के प्रति घोषित किया था :

ब्रह्मांड भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव।
गुरु-कृष्ण प्रसादे पाये भक्ति-लता-बीज॥

"अपने अपने कर्म के अनुसार, सारे प्राणी संपूर्ण ब्रह्मांड भर में भ्रमण कर रहे हैं। उनमें से कुछ उच्च लोकों को जा रहे हैं, तथा कुछ निम्न लोकों को। लाखों भ्रमणकारी प्राणियों में, अत्यंत सौभाग्यवान जीव कृष्ण की कृपा से प्रामाणिक गुरु के संग का अवसर पाता है। कृष्ण एवं गुरु दोनों की कृपा से ऐसा व्यक्ति भक्तिमय सेवा की लता का बीज प्राप्त करता है।" (*चै. च. मध्य* १९.१५१)

अपने *परमात्मा* रूप में, भगवान् कृष्ण सबके हृदय में स्थित हैं, तथा वे हमारे अधिकार के अनुसार, जो हमारे पूर्व कर्मों पर आधारित होता है, हमारी कामनाएँ

पूर्ण करते हैं। (यहाँ तक कि पापपूर्ण इच्छाओं की पूर्ण करने से पूर्व भी कृष्ण की अनुमति आवश्यक है।) श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "अकस्मात् अथवा सौभाग्य से यदि कोई जीव कृष्णभावनामृत आंदोलन के संपर्क में आए तथा उस आंदोलन का संग करना चाहे, तो कृष्ण, जो सबके हृदय में विराजमान हैं, उसे प्रामाणिक गुरु से मिलने का अवसर देते हैं।" (*चै.च. मध्य* १९.१५१ तात्पर्य) यदि व्यक्ति इतना भी ठीक से न जाने कि वह क्या और किसे खोज रहा है, किन्तु वह भगवान् को पुकार लगाए तथा मुक्त होना चाहे, तो भगवान् अपनी कृपा प्रदान करेंगे—किसी महात्मा को समर्पण का सु-अवसर।

नारद के शिष्य ध्रुव महाराज भगवान् द्वारा सहायताप्राप्त व्यक्ति का एक उदाहरण हैं। ध्रुव अपनी सौतेली माँ द्वारा अपमानित हुए थे, तथा अपनी मां के परामर्श पर वे जंगल में भगवान् को खोजने गए। यद्यपि बालक उच्च पद एवं प्रतिकार का इच्छुक था, उसकी दृढ़ता भगवान् को भा गई। ध्रुव जंगल में पशुओं से पूछते फिर रहे थे, "भगवान् कहाँ हैं? क्या तुम भगवान् हो?"—एवं अचानक देवर्षि नारद उनके सम्मुख प्रकट हुए। श्रील प्रभुपाद व्याख्या करते हैं,

> परम पुरुषोत्तम भगवान् प्रत्येक के हृदय में उपस्थित हैं, एवं वे जैसे ही यह भांप जाते हैं कि जीव भक्तिमय सेवा के प्रवेश हेतु गम्भीर है, तो वे अपना प्रतिनिधि भेजते हैं। इस प्रकार नारद को ध्रुव महाराज के पास भेजा गया। (*भागवत* ४.८.२५, तात्पर्य)

सूत्र ४१

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्॥ ४१॥

तस्मिन्—उनमें; **तत्**—उनका; **जने**—लोगों में; **भेद**—भेद का; **अभावात्**—अभाव के कारण।

अनुवाद

(व्यक्ति भगवान् के शुद्ध भक्तों के संग द्वारा अथवा प्रत्यक्ष भगवद्-कृपा द्वारा भक्ति प्राप्त कर सकता है क्योंकि) भगवान् एवं उनके शुद्ध भक्त अभिन्न हैं।

तात्पर्य

भगवान् की कृपा एवं उनके शुद्ध भक्तों की कृपा समान शक्तिशाली है क्योंकि भक्त एवं भगवान् समान शिक्षा देते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं, "मुझमें शरणागत होओ," एवं शुद्ध भक्त कहता है, "हाँ, मैं तुममें शरणागत होता हूँ," तथा दूसरों को बताता है, "कृष्ण को शरणागत होओ।" अतः भगवान् तथा उनके प्रेमी सेवकों की कृपा का समान प्रभाव पड़ता है : ग्रहणशील बद्धजीवों के हृदयों में भक्ति का बीज आरोपित होता है।

मायावादी सदैव भगवान् के व्यक्तिगत स्वरूप को ध्वस्त करने के अवसर की ताक में रहते हैं, एवं इसलिए वे इस *सूत्र* को निम्नलिखित प्रकार से समझाते हैं : "ठीक जैसे समुद्र में प्रवेश कर जाने पर नदी अपना नाम व रूप खो देती है, वैसे ही भगवान् में स्वयं को लीन कर देने पर भक्त अपना पृथक् व्यक्तित्व खो देता है।" निर्विशेषवादी आत्मा-हनन तथा भगवद्-एकात्मयता को दिव्य प्रेम का उत्कर्ष समझते हैं। नारद एवं शास्त्रों द्वारा सांकेतिक अर्थ के विषय में, मायावादी कहते हैं कि यह "साधारण भक्तों हेतु" रियायत है।

किन्तु वैष्णवगण, ऐसे निंदाकारी शब्द-जाल को सहन नहीं करते। भगवान् एवं गुरु (अथवा भगवान् एवं सारे जीवों) की अभिन्नता गुणगत है। जीव पूर्ण, शक्तिमान तथा ऐश्वर्यशाली परम पुरुषोत्तम आदि भगवान् के क्षुद्र नमूने हैं। जीवों में भगवान् से अपनी गुणगत अभिन्नता को भूलने की प्रवणता होती है, और इसलिए भगवान् हमें हमारे आध्यात्मिक स्वरूप का पुनःस्मरण कराने हेतु शास्त्र, महात्माओं तथा चैत्य-गुरु (परमात्मा) के रूप में प्रकट होते हैं। परमात्मा को उसकी अपनी दिव्यता का पुनःस्मरण करवाने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह कभी भौतिक शरीर में उपाधिग्रस्त नहीं होता। यह जीवों तथा भगवान् में एक और भेद है : भगवान् अपने आध्यात्मिक स्वरूप में सदा स्व-प्रबुद्ध रहते हैं, जबकि जीवों में सदा *माया* के प्रभाव के अंतर्गत आ जाने की प्रवणता होती है। इन दोनों में एक और अंतर यह है कि परमात्मा सबके शरीरों में उपस्थित रहते हैं, जबकि व्यक्तिगत बद्ध आत्मा एक विशिष्ट शरीर में ही उपस्थित रहती है।

बद्ध तथा मुक्त, दोनों अवस्थाओं में जीव का स्वरूप भगवान् के *सच्चिदानंद* स्वरूप से भिन्न होता है। यद्यपि मायावादी आध्यात्मिक अभिन्नता के दर्शन को समझने में सदा विभ्रमित ही रहेंगे, तथापि एक *कवि*, या विद्वान व्यक्ति, ऐसी त्रुटियाँ नहीं करता। श्रील प्रभुपाद मायावादियों एवं उनके द्वारा प्रभावित व्यक्तियों की दशा की व्याख्या करते हैं :

केवल नास्तिक लोग ही जीव तथा परम पुरुषोत्तम भगवान् को हर प्रकार से एक मानते हैं। अतः चैतन्य महाप्रभु कहते हैं, *मायावादी भाष्य सुनिले हय सर्वनाश* "यदि व्यक्ति मायावादी दार्शनिकों के निर्देशों का पालन करता है तथा परम पुरुषोत्तम भगवान् एवं व्यक्तिगत जीवात्मा को समान मानता है, तो उसके यथार्थ दर्शन की समझ हमेशा के लिए सर्वनाशगामी है।" (*भागवत* ४.२८.६३, तात्पर्य)

सूत्र ४२

तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम्॥ ४२॥

तत्—वह; **एव**—एकमात्र; **साध्यतां**—साध करनी चाहिए; **तत्**—वह; **एव**—एकमात्र; **साध्यतां**—साध करनी चाहिए।

अनुवाद

एकमात्र शुद्ध भक्तों के संग की ही साधना करो। उसी की साधना करो।

तात्पर्य

देवर्षि नारद *नारद-भक्ति-सूत्र* के श्रोताओं को अपने इस परामर्श का आशीर्वाद देते हैं, जिसको उन्होंने बल देने हेतु दो बार कहा है—शुद्ध भक्तों के संग द्वारा गुरु एवं कृष्ण के चरणकमलों की प्राप्ति की ही साधना करो; उसी की साधना करो। जब भगवान् तथा उनके भक्तगण हमारे गम्भीर प्रयास देखेंगे, तो वे हमें सारी आवश्यक सहायता प्रदान करेंगे।

कृष्ण हेतु एकनिष्ठ भक्ति की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा की गई थी। आइये हम भी उनके पदचिन्हों का अनुसरण करें; उनके शुभाकांक्षी अनुगामियों से सदैव मार्गदर्शन की मांग करते हुए, उनके *शिक्षाष्टक* (४) द्वारा प्रदर्शित सदा प्रार्थना करें :

न धनं न जनं न सुन्दरीं
कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे
भवताद भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

"हे सर्वशक्तिमान प्रभु, मुझे धन-संग्रह की इच्छा नहीं, और न ही मैं सुन्दरियों का भोग अथवा अनेक अनुयायी चाहता हूँ। मैं तो बस जन्म जन्मांतर तक आपकी अहैतुकी भक्तिमय सेवा की कामना करता हूँ।

सूत्र ४३

दुःसंग सर्वथैव त्याज्यः ॥ ४३ ॥

दुःसंग—दुसंग; **सर्वथा**—सर्वथा; **एव**—अवश्य; **त्याज्यः**—त्याज्य।

अनुवाद

व्यक्ति को दुःसंग का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

तात्पर्य

यह बताने के पश्चात् कि शुद्ध भक्तों का संग, भगवद्-संग जितना ही उत्तम है, नारद हमें दुःसंग के दुष्प्रभावों की सूचना देते हैं। जैसा हमने पहले भी कहा था, चैतन्य महाप्रभु ने एक बार वैष्णव की यह परिभाषा की थी कि सांसारिक लोगों तथा अभक्तों के संग का त्याग करने वाला ही वैष्णव है : *असत-संग-त्याग—ऐइ वैष्णव आचार*। चैतन्य महाप्रभु ने विभिन्न प्रकार के असत-संग का विशिष्ट वर्णन किया था : *स्त्री-संगी, एक असाधु कृष्णभक्त आर* (*चै. च. मध्य* २२.८७)। वैष्णव को *स्त्री-संगी,* अर्थात स्त्रियों का अवैध संग करने वाले, से बचना चाहिए, तथा उसे *कृष्ण-अभक्तों* का भी त्याग कर देना चाहिए। यह विशेष रूप से मायावादियों की ओर संकेत करता है।

भगवान् कपिल कहते हैं, "किसी अन्य वस्तु के प्रति आसक्ति द्वारा व्यक्ति का सम्मोहन तथा बंधन इतना पूर्ण नहीं होता जितना कि स्त्रियों अथवा स्त्री-संगियों के प्रति आसक्ति द्वारा होता है।" (*भागवत* ३.३१.३५)। कलियुग में, हमें विज्ञापनों तथा टेलिविजन द्वारा अवैध संभोग में प्रवृत्त होने हेतु सतत आमंत्रित किया जाता है। स्त्रियों एवं पुरुषों के मध्य अमर्यादित सामाजिक मिलना-जुलना आध्यात्मिक पथ पर प्रधान विकर्षण है।

स्त्री-संबंधित कथनों को स्त्री-जाति के प्रति आलोचना नहीं समझ लेना चाहिए। जिस प्रकार पुरुष के लिए स्त्री बहुधा माया का चिन्ह होती है, उसी प्रकार पुरुषों के प्रति आसक्ति भी स्त्री का मुख्य बंधन है। जैसा भगवान् कपिल कहते हैं, "अतः

स्त्री को अपने पति, अपने घर, तथा अपनी संतान को अपनी मृत्यु हेतु भगवान् की माया का आयोजन मानना चाहिए, ठीक वैसे ही जैसे बहेलिये का मधुर संगीत मृग के लिए मृत्यु होता है।" (*भागवत* ३.३१.४२) अवश्य, स्त्री-पुरुष का आपस में मिलने का पूर्णतः निषेध संभव नहीं, एवं इसलिए सकारात्मक समाधान कृष्ण को अपने जीवन का केन्द्र बना लेना है। यदि स्त्री-पुरुष कृष्णभावनामृत विवाह में रहकर अपनी मुख्य आसक्ति कृष्ण के प्रति स्थानांतरित कर देंगे, तो उनका संबंध आध्यात्मिक पुनरुद्धार का स्रोत बन सकता है।

जब चैतन्य महाप्रभु कहते हैं कि व्यक्ति को असाधुओं से बचना चाहिए, तो उनका तात्पर्य उन व्यक्तियों से है जो धार्मिक जीवन के आधारभूत सिद्धांतों का पालन नहीं करते। उदाहरणस्वरूप, प्रत्येक कृष्णभावनाभावित भक्त चार नियमों का पालन करता है, किन्तु असाधु लोग सदा अवैध स्त्री-संग, मांस-भक्षण, मद्यपान, तथा जुए में प्रवृत्त होते हैं। यदि भक्त असाधुओं का घनिष्ठ संग करने लगे, तो वह अंततः अपने समस्त ज्ञान और प्रशिक्षण के बावजूद, उनकी आदतों को ग्रहण कर लेगा। जैसा *हरि-भक्ति-सुधोदय* में बताया गया है, "संग बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह एक मणि के सदृश है, जो अपने सम्मुख रखी किसी भी वस्तु को प्रतिबिंबित कर देता है" (*भक्तिरसामृतसिन्धु*)। एवं चैतन्य महाप्रभु ने सनातन गोस्वामी को जैसी शिक्षा दी थी, "कृष्णभावनामृत में भक्तिमय सेवा से विहीन, एवं फलस्वरूप पुण्यकर्मों से विहीन, व्यक्तियों को देखना भी नहीं चाहिए।" (*चै.च. मध्य* २२.९२)

जब असुर हिरण्यकशिपु ने व्यंग्य में अपने बेटे से कृष्णभावनामृत के विषय में पूछा था, तो प्रह्लाद ने बताया कि असुरगणों द्वारा कृष्ण को जानना क्यों संभव नहीं?:

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा
मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानां।
अदांतगोभिर्विशतां तमिस्रं
पुनः पुनश्चर्वित-चर्वणानाम्॥

"अपनी अनियंत्रित इंद्रियों के कारण, भौतिक जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्त व्यक्ति नरकों की ओर प्रगति करते हैं तथा चबे हुए को बारम्बार चबाते हैं। उनकी मति कभी कृष्ण में नहीं जागृत होती—न तो अन्यों के उपदेश से, न अपने निजी प्रयासों से, एवं न ही इन दोनों के मेल से।" (*भागवत* ७.५.३०)

अनियंत्रित इंद्रियों वाले लोग कृष्ण को कभी स्वयं नहीं जान सकते, एवं यदि कोई अपेक्षाकारी भक्त उनका संग करे, तो वह भी कृष्ण को जानने की अपनी सामर्थ्य खो बैठेगा।

परस्पर सम्मुख होने के अतिरिक्त अभक्तों का संग कई प्रकार से होता है। पुस्तकों, सिनेमा, सार्वजनिक स्थान—संग की संभावनाएँ असीमित हैं। विशेषकर आजकल, व्यक्ति शहर के एकांत कमरे में रहता हुआ भी जन-संचार तथा यांत्रिक मनोरंजन द्वारा दुःसंग में पूर्णतः डूब सकता है। स्वयं को दुष्प्रभावों से बचाने हेतु स्वेच्छामय परिपालन तथा संघर्ष की आवश्यकता होती है।

कोई व्यक्ति इन निर्देशों पर आपत्ति करते हुए दावा कर सकता है, "परमेश्वर सर्वत्र हैं! किन्हीं लोगों को खराब क्यों कहा जाए?" सर्वोच्च भक्त—*महाभागवत*—सारे व्यक्तियों को भगवान् के पूर्ण सेवक के रूप में देख सकता है। वह विनम्रतापूर्वक सोचता है कि उसे छोड़कर अन्य सभी भगवान् के सेवक हैं। किन्तु महाभागवत की एक अन्य योग्यता यह भी होती है कि वह सदैव कृष्ण का स्मरण करता है एवं कभी क्षणमात्र के लिए भी उनका विस्मरण नहीं करता। व्यक्ति को महाभागवत की योग्यताओं से रहित होते हुए, उसके एक पक्ष का अनुकरण नहीं करना चाहिए। अन्य शब्दों में, महान भक्तों के उदाहरण का अनुसरण करने के बहाने, व्यक्ति को दुःसंग में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए एवं यह दावा नहीं करना चाहिए कि "यह सब कृष्ण है।"

अधिकतर भक्तों को भक्ति की *कनिष्ठ* अवस्था, जिसमें भगवान् को केवल मंदिर में ही देखा जाता है, से ऊपर उठने का प्रयास करना होता है। उनको *मध्यम* अवस्था, जिसमें व्यक्ति भगवान् को सबके हृदयों में स्थित मानता है और तथापि अपने संबंधों में भेद करता है, पर आने में संघर्ष करना पड़ता है। मध्यम-भक्त अपना प्रेम भगवान् हेतु संजो कर रखता है, एक जैसे विचार वाले भक्तों से मित्रता करता है, अबोध व्यक्तियों पर कृपा करता है, एवं असुरों की उपेक्षा करता है। वह *कात्यायन-संहिता* का निम्नलिखित निर्देश गम्भीरता पूर्वक लेता है : "कृष्णभावनामृत से रहित व्यक्तियों का संग करने से अच्छा है कि सलाखों में बंद होने तथा जलती लपटों से घिरें होने के कष्ट उठाये जायें। ऐसा संग बुहत कष्टदायक है।" (*चै.च. मध्य* २१)

सूत्र ४४

कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात्॥ ४४॥

काम—कामवासना; **क्रोध**—क्रोध; **मोह**—मोह; **स्मृति-भ्रंश**—स्मृति का नाश; **बुद्धि-**

नाश—बुद्धि का नाश; **सर्व-नाश**—सर्वनाश; **कारणत्वात्**—कारण होने से।

अनुवाद

दुःसंग काम, क्रोध, विभ्रम, विस्मृति, बुद्धिनाश एवं सर्वनाश का कारण है।

तात्पर्य

कोई सोच सकता है कि *भक्ति-योग* में उच्चस्तरीय विषयों की व्याख्या करने के पश्चात् नारद दुःसंग के प्रभावों की चर्चा क्यों कर रहे हैं? किन्तु जन्म-मृत्युरूपी भवसागर को पार करने में गम्भीर लोगों के सिवा अन्य कौन इन चेतावनियों की परवाह करेगा? संन्यास आश्रम में भक्तिमय सेवा का अभ्यास करने वालों का भी पतन हो सकता है। जैसा *चैतन्य-चंद्रोदय-नाटक* (८.२३) में कहा गया है :

निष्किंचनस्य भगवदभजनोन्मुखस्य
पारं परं जिगमिषोर भव-सागरस्य।
संदर्शनं विषयिनाम् अथ योषितां च
हा हंत हंत विष-भक्षणतोऽप्यसाधु।।

"हाय, भवसागर पार करने तथा भौतिक कामनारहित दिव्य प्रेमपूर्ण सेवा के इच्छुक व्यक्ति हेतु, इंद्रियतृप्ति में संलग्न विषयी एवं तदृश स्त्री का दर्शन स्वेच्छापूर्वक विषपान से भी अधिक घृणित है।" और इसलिए दुःसंग के प्रतिवाद का परामर्श सबके लिए है, जिसके अंतर्गत निर्विघ्न प्रगति के इच्छुक अध्यात्मवादी भी हैं।

भगवद्गीता (२.६२-६३) में, भगवान् कृष्ण दुःसंग के कारण जीव के पतन का विश्लेषण करते हैं :

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।

"इंद्रियविषयों का चिंतन करते हुए, व्यक्ति उनके प्रति आसक्त हो जाता है, और ऐसी आसक्ति से कामवासना जन्म लेती है, तथा फिर कामवासना से क्रोध का उदय होता है। क्रोध से पूर्ण मोह उत्पन्न होता है, और मोह से स्मृति विभ्रमित हो जाती है। स्मृति के विभ्रमित होने पर, बुद्धि का नाश होता है, और जब बुद्धि का नाश होता है तो व्यक्ति फिर भवसागर में गिर जाता है।"

दुःसंग पाप हेतु संचित कर्म प्रवृत्तियों को उजागर करता है, जिससे निम्न प्रवृत्तियाँ सक्रिय हो उठती हैं। यदि कोई प्रत्याशी भक्त सुखवादियों द्वारा की गई काम वासनासुख की चर्चा सुने, तो वह सरलता से उत्तेजित हो सकता है, क्योंकि शुद्ध होने तक उसमें सांसारिक भोगों की अनेक प्रवृत्तियाँ रहती हैं। जैसे ही वह सुख के विषयों का चिंतन आरंभ करे, उसे उनकी प्राप्ति की इच्छा होगी। तब वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति का प्रयास करेगा, तथा हताश होने पर क्रोधित होगा। तत्पश्चात् वह मोह में पड़ेगा, स्मृति-विभ्रमित हो जायेगा, इत्यादि। अतः अभक्तों का संग रखने से बुरी आदतें एक के बाद एक उपजती हैं, एवं सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। जैसा भगवान् कपिलदेव कहते हैं (*भागवत* ३.३१-३२-३३)

> अतः, यदि जीव जिह्वा-तृप्ति तथा संभोग-सुख के अन्वेषण में रत विषयी लोगों से प्रभावित होकर अधर्म के पथ का संग करता है तो वह पुनः पहले की तरह नरक को जाता है। वह सत्यवादिता, शौच, कृपा, गम्भीरता, आध्यात्मिक बुद्धि, लज्जा, तप, यश, क्षमाशीलता, मन का नियंत्रण, इंद्रियों का नियंत्रण, सौभाग्य तथा अन्य ऐसे अवसरों से रहित हो जाता है।

न केवल "निरे मूर्ख" अपितु तपस्वी ऋषि भी—यदि वे भक्त न हो—*दुःसंग* माने जाते हैं। मनोधर्मी चिंतक, निर्विशेषवादी योगीगण, ज्ञानीजन तथा शून्यवादी—ये सभी भक्त पर विपरीत प्रभाव डाल सकते हैं तथा उसे अभक्तिमय मार्गों की ओर मोड़ सकते हैं। चैतन्य महाप्रभु के एक अनुयायी, भगवान् आचार्य, सोचते थे कि वे भगवान् का दृढ़ भक्त होने के नाते दूषण से प्रतिरक्षित थे। किन्तु स्वरूप दामोदर गोस्वामी ने उत्तर दिया कि मायावाद दर्शन पर चर्चाएँ सुनने से "भक्त का जीवन व हृदय चूर-चूर हो जाता है", तथा उन्हें नहीं सुनना चाहिए। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं :

> मायावादी दार्शनिकों ने अपने तर्क इतनी आकर्षक, आलंकारिक भाषा में प्रस्तुत किए हैं कि मायावाद दर्शन का श्रवण कभी-कभी महाभागवत का भी मन बदल सकता है। यथार्थ वैष्णव भगवान् एवं जीव को एक तथा समान होने का दावा करने वाले किसी भी दर्शन को सहन नहीं कर सकता। (*चै.च. आदि* ७.११०, तात्पर्य)

पूर्णतः संलग्न *साधक* तक के लिए दुःसंग के खतरों का विचार करने से, हम देख सकते हैं कि नारद ने इन खतरों की अतिशयोक्ति नहीं की है, और न ही केवल नौसिखियों को चेतावनी दी है।

सूत्र ४५

तरंगिता अपीमे संगात् समुद्रायन्ति॥ ४५॥

तरंगितः—लहरें; **अपि**—अवश्य; **इमे**—ये सब; **संगात्**—दुःसंग से; **समुद्रायन्ति**—समुद्र को बनाना।

अनुवाद

दुःसंग की लहरों के रूप में आकर, ये दुष्प्रभाव दुःख का महासागर बन जाते हैं।

तात्पर्य

विमोहनकारी शक्ति, माया, भगवान् की निजी शक्ति है तथा इसलिए शक्तिशाली ऋषि को भी विमोहित कर सकती है। जैसे भगवान् कपिलदेव घोषणा करते हैं, "ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न समस्त प्रकार के प्राणियों, यथा मनुष्यों, देवताओं और पशुओं, में केवल नारायण ऋषि ही स्त्रीरूपी माया के आकर्षण से प्रतिरक्षित हैं।" (*भागवत* ३.३१.३७)। व्यक्ति को माया के साथ यह समझकर छेड़छाड़ नहीं करनी चाहिए कि अभी अपनी सीमाओं का थोड़ा-सा उल्लंघन कर लूँ तथा बाद में यदि कठिनाई होगी तो लौट आऊँगा। पूर्णतः मुक्त होने तक हमारे भीतर विनाश के बीज विद्यमान रहते हैं, और हमें दुःसंग द्वारा उसे उपजने की अनुमित नहीं देनी चाहिए।

एक बार श्रील प्रभुपाद को पता लगा कि उनके दीक्षित शिष्यों में से कुछ भक्त गांजा पीने की अपनी पुरानी आदतों पर उतर आए हैं। श्रील प्रभुपाद ने कहा कि यह दुःसंग का परिणाम है एवं उन्होंने खटमलों का उदाहरण दिया। शीतकाल में, खटमल आपकी चारपाई से चले गए प्रतीत होते हैं, किन्तु नियत समयोपरांत वे पुनः आते हैं तथा आपको पुनः काटते हैं एवं आपका रक्त चूसकर मोटे होते हैं। इसी प्रकार, किसी अध्यात्मवादी का *काम* पूर्णतः नियंत्रित प्रतीत हो सकता है, परन्तु वास्तव में वह क्षुद्रावस्था में उपस्थित रहता है। यदि नया अवसर दिया जाये, तो उसकी भौतिक इच्छाएँ फिर प्रहार करती हैं। एक अन्य अवसर पर, श्रील प्रभुपाद ने "हिप्पी बीजों" की चर्चा की। अपने ब्रह्मचारी शिष्यों में से एक के लम्बे बाल देखकर, उन्होंने कहा कि शिष्य की पुरानी हिप्पी प्रवृत्तियाँ अब लम्बे बालों के रूप में अंकुरित हो रही हैं।

अतः थोड़े से भी दुःसंग से डरना तथा हर कीमत पर उससे बचना अच्छा है। किन्तु कोई यह पूछ सकता है कि क्या यह बर्ताव प्रचारक के करुणामय भाव से बेमेल नहीं! यदि प्रचारक भौतिकतावादियों का संग करे, तो क्या वह उनके समान नहीं हो जायेगा? उत्तर यह है कि दूषित होने से बचने हेतु प्रचारक को अपनी कृष्णभावना में दृढ़ होना चाहिए। यदि वह भक्ति-योग के विधि-निषेधों का पालन करे—जिसमें भक्तों का संग, भगवान् की गुणावली का श्रवण व कीर्तन, इंद्रियतृप्ति से बचना, इत्यादि भी निहित हों—तो वह बिना पतित हुए प्रचार करने में समर्थ होगा। चैतन्य महाप्रभु के गुरु के अभिनय में, ईश्वर पुरी ने उनको वास्तव में हमारी ओर लक्षित निर्देश दिए : "मेरे प्रिय पुत्र, नाचो, गाओ एवं भक्तों के संग में संकीर्तन करो। इसके अतिरिक्त, बाहर जाओ एवं कृष्ण-नाम के जप की महिमा का प्रचार करो, क्योंकि इस पद्धति द्वारा तुम समस्त पतितात्माओं को मुक्त करने में समर्थ होगे" (*चै.च. आदि* ७.९२)। इसी प्रकार, श्रील प्रभुपाद ने अपने शिष्यों को करुणामय प्रचारक बनने का निर्देश दिया :

> जो प्रचार में प्रवीण नहीं हो, वह दुःसंग से बचते हुए एकांत में जप कर सकता है, किन्तु वास्तविक उन्नत भक्त के लिए प्रचार कार्य तथा भक्तिमय सेवा में असंयुक्त लोगों से मिलना प्रतिकूलताएँ नहीं हैं। भक्त अभक्तों को अपना संग देता है, किन्तु उनके दुर्व्यवहार से प्रभावित नहीं होता। अतः एक शुद्ध भक्त की क्रियाओं से भगवत्प्रेमरहित लोग भी एक दिन भगवद्-भक्त बनने का अवसर पा सकते हैं। (*चै.च. आदि* ७.९२, तात्पर्य)

यह समझाने के लिए कि कोई अभक्तों का संग करके भी अपनी भक्तिमय संलग्नता बनाए रख सकता है श्रील प्रभुपाद कभी-कभी निम्नलिखित कहानी सुनाते थे :

एक बार एक मगरमच्छ ने एक वृक्ष पर बैठे एक बंदर को अपनी पीठ पर सवारी करने का आमंत्रण दिया। मूर्ख बंदर पेड़ से नीचे कूदा एवं शीघ्र ही वह नदी के बीचोंबीच मगरमच्छ की पीठ से चिपक गया।

बंदर ने मगरमच्छ से पूछा, "हम कहाँ जा रहे हैं?" मगरमच्छ ने उत्तर दिया, "मैं तुम्हें घर ले जा रहा हूँ, जहाँ मेरी पत्नी तुम्हारा हृदय काट निकालेगी तथा हम मध्यान्ह के भोजन में तुम्हें खाएँगे।"

बंदर बोला, "किन्तु मैं तो अपना हृदय किनारे के पेड़ में छोड़ आया। तुम क्या कृपया मुझे उसको लाने दोगे?"

मगरमच्छ ने सोचा कि यह अच्छा प्रस्ताव है एवं उसने बंदर को किनारे पर जाने की अनुमति दे दी। किन्तु बंदर ने अपने पेड़ पर छलांग लगाई तथा मगरमच्छ के और निमंत्रणों को ठुकरा दिया।

इस कहानी की शिक्षा : तुम अभक्त का संग कर सकते हो, किन्तु उसे अपना हृदय मत दो।

इस्कॉन के मंदिरों में रह रहे प्रचारक इस परामर्श का प्रतिदिन पालन करते हैं। वे तड़के उठ कर मंदिर के विग्रहों के समक्ष *मंगल-आरती* में सम्मिलित होते हैं, *कीर्तन* तथा *जप* करते हैं, *श्रीमद्भागवतम्* प्रवचन सुनते हैं, एवं भक्तों के संग में *प्रसादम्* सेवन करते हैं। इस प्रातःकालीन कार्यक्रम द्वारा शक्तिमान होकर, वे संसार के घोरतम भौतिकतावादी स्थानों में जाकर प्रचार करते हैं, तथा लोगों को *हरिनाम, प्रसादम्* या *साहित्य* के रूप में कृष्ण की कृपा-प्राप्ति का अवसर प्रदान करते हैं। शाम को प्रचारक और अधिक श्रवण-कीर्तन हेतु मंदिर लौटते हैं। जब तक वे अभक्तों के साथ होते हैं, वे अपने भक्तिमय सिद्धांतों से समझौता नहीं करते, एवं इस प्रकार दुःसंग तथा भौतिक प्रकृति के गुणों से अपना हृदय निर्लिप्त रखते हैं।

निस्सन्देह, यदि प्रचारक स्वयं को माया द्वारा अभिभूत पाए, तो उसे अन्यों को बचाने के प्रयास में स्वयं को माया द्वारा निगलने देने के स्थान पर सर्वप्रथम अपनी रक्षा करनी चाहिए। किन्तु दुःसंग के प्रति नारद के परामर्श का यह अर्थ नहीं कि प्रचार में पक्के भक्तों को इस जगत के जगाईयों-मधाईयों के निकट जाकर उनको विनम्रतापूर्वक हरिनाम तथा दिव्य साहित्य नहीं देना चाहिए। यदि भक्तगण उनके पास न जायें, तो मूर्खों एवं धूर्तों को कैसे बचाया जायेगा?

सूत्र ४६

कस्तरति कस्तरति मायां यः संगं त्यजति
यो महानुभावं सेवते निर्ममो भवति॥ ४६॥

कः—जो; **तरति**—तरता है; **कः**—जो; **तरति**—तरता है; **मायाम्**—माया; **यः**—वह जो; **संगम्**—भौतिक संग; **त्यजति**—त्याग करता है; **यः**—जो; **महानुभावम्**—महानुभाव, विद्वान व्यक्ति; **सेवते**—सेवा करता है; **निर्ममः**—निर्मम होकर; **भवति**—बन जाता है।

अनुवाद

माया को कौन तर सकता है? जो भौतिक संग का त्याग करे, महानुभावों की सेवा करे, तथा ममतारहित हो।

तात्पर्य

माया को तरने की तुलना कभी-कभी सागर को पार करने से की जाती है। मृत्यु के समय बद्धजीव को किसी अन्य भौतिक शरीर में जाना पड़ता है, और यदि वह उच्च लोकों में जन्म ले, तो भी उसे बारम्बार जन्म-मृत्यु का दुख झेलना पड़ता है। इस संसार के सागर की सीमाओं को पार करने हेतु, उसे भगवद्-धाम लौटना होता है। किन्तु यह बड़ा कठिन है, क्योंकि कोई भी भौतिक इच्छाएँ, भले ही वे पापमय हों या पुण्यमय हों, बद्धजीव को संसार में वापस फेंक देगीं।

फिर भी, भगवान् कृष्ण इस पद्धति को सरल बना देते हैं। *भगवद्गीता* (७.१४) में वे कहते हैं,

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

"मेरी इस त्रिगुणमयी भौतिक प्रकृति रूपी दैवी शक्ति को पार करना कठिन है। किन्तु मेरे शरणागत जीव सहर्ष ही इसे पार कर लेते हैं।"

नारद अब कृष्ण की शरणागति तथा दुस्तर माया-सागर को पार करने के विषय में विस्तृत सूचना दे रहे हैं। प्रस्तुत *सूत्र* में वे आसक्ति के त्याग, महात्माओं के संग तथा ममत्व से मुक्ति का संकेत देते हैं। व्यक्ति को ये सभी तथा अन्य अनुकूल पद्धतियाँ स्वीकारनी चाहिए, किन्तु साथ ही साथ यह भी समझना चाहिए कि वह स्वयं के बल पर सागर को पार नहीं कर सकता। व्यक्ति की गम्भीर भक्तिगत क्रियाओं के कारण, कृष्ण को बचाव करने आना पड़ता है। भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, "किन्तु जो भक्तिमय सेवा में संलग्न होकर, अपनी समस्त क्रियाओं को मेरे अर्पण करके तथा एकनिष्ठता के साथ मुझमें समर्पित होकर मुझे भजते हैं—उनके लिए मैं जन्म एवं मृत्यु के सागर से तुरंत पार लगानेवाला होता हूँ।" (*भ.गी.* १२.६-७)। अपने तात्पर्य में श्रील प्रभुपाद कहते हैं, "केवल कृष्ण के पवित्र नाम-जप से—*हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे / हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे*—भक्त सुगमतापूर्वक तथा उल्लासपूर्वक परम गति प्राप्त कर सकता है, किन्तु यह गति धर्म की किसी अन्य पद्धति से प्राप्त नहीं हो सकती।"

जैसा पहले कहा गया है, उच्च रूप में भगवद्-कृपा उनके शुद्ध भक्तों द्वारा ही

प्राप्त की जा सकती है। वे व्यक्ति को भगवान् के उन चरणकमलों का आश्रय लेने में समर्थ करते हैं जो माया के विस्तृत सागर को तरने में एक नाव का कार्य करते हैं :

> हे कमलनयन प्रभु, अपने ध्यान को आपके उन चरणकमलों पर एकाग्र करके, जो सारे अस्तित्व का भंडार हैं, एवं उन चरणकमलों को अविद्या का सागर पार करने हेतु एक नाव के रूप में स्वीकार करने द्वारा, व्यक्ति महाजनों (महान संतों, ऋषियों तथा भक्तों) के पदचिन्हों का अनुसरण करता है। इस सरल पद्धति के माध्यम से, व्यक्ति अविद्या का सागर उसी सुगमता से पार कर सकता है जिस सुगमता से गौ-खुर द्वारा बने गढ़े को पार किया जाता है। (*भागवत* १०.२.३०)

सूत्र ४७

यो विविक्तस्थानं सेवते यो लोकबन्धमुन्मूलयति
निस्त्रैगुण्यो भवति यो योगक्षेमं त्यजति॥ ४७॥

यः—जो; **विविक्त**—एकांत; **स्थानम्**—स्थान; **सेवते**—सेवा करता है; **यः**—जो; **लोक**—लौकिक समाज का; **बंधम्**—बंधन; **उन्मूलयति**—उन्मूलन; **निस्त्रैगुण्यः**—भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के प्रभाव से मुक्त; **भवति**—बन जाता है; **यः**—जो; **योग**—लाभ (की इच्छा); **क्षेमं**—और संरक्षण; **त्यजति**—त्याग देता है।

अनुवाद

(माया को कौन तर सकता है?) वह व्यक्ति जो एकांतवास करता है, लौकिक समाज के प्रति अपनी आसक्ति का उन्मूलन करता है, भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के प्रभाव से मुक्त होता है, तथा भौतिक लाभ और संरक्षण की उत्कंठा को त्याग देता है।

तात्पर्य

नारद माया को तरने की और पद्धतियाँ बता रहे हैं। सर्वप्रथम एकांतवास है (*विविक्तस्थानं सेवते*)। *भगवद्गीता* में अनेक बार भगवान् कृष्ण द्वारा परामर्श दिया गया है कि आध्यात्मिक जीवन का अभ्यास एकांत में करना चाहिए। *ध्यान-योग* में

एकांतवास पर विशिष्ट बल दिया जाता है (*रहसि स्थितः एकाकी*) (*भ.गी.* ६.१०)। तथा तेरहवें अध्याय में, ज्ञान के तत्त्वों की सूची देते हुए, भगवान् कृष्ण *विविक्तदेश सेवित्वम्*, "एकांतवास की अपेक्षा करते हुए" शब्दों का समावेश करते हैं (*भ.गी.* १३.११)। अठारहवें अध्याय में फिर, आत्म-ज्ञान की अवस्था तक पहुँचे हुए व्यक्ति का वर्णन करते हुए, भगवान् कृष्ण कहते हैं कि वह "एकांत स्थान पर रहता है" (*विविक्त-सेवी*) (*भ.गी.* १८.५२)

किन्तु, नवदीक्षित भक्तों को, अकेले रहने का परामर्श नहीं दिया जाता। यद्यपि नामाचार्य हरिदास ठाकुर एवं यदाकदा चैतन्य महाप्रभु द्वारा एकांत भजन का अभ्यास किया गया था, तथापि भक्तिसिद्धांत सरस्वती ठाकुर अपरिपक्व अवस्था में एकांत स्थान पर जप की इच्छा करने वाले भक्तों की भर्त्सना करते थे। उन्होंने लिखा, "मेरे प्रिय मन, तुम वैष्णव होने का इतना अभिमान क्यों करते हो? तुम्हारा एकांत भजन तथा पवित्र भगवन्नाम जप तुम्हारी सस्ती यश-कामना पर आधारित हैं, एवं इसलिए तुम्हारा पवित्र नाम-जप केवल ढोंग मात्र है।" (*कृष्ण, पृष्ठ ८८२*)

गीता में वर्णित पुण्य व एकांत स्थान से तीर्थस्थल का भी तात्पर्य है। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "भारत में सब योगीजन—अध्यात्मवादी या भक्त—घर छोड़कर प्रयाग, मथुरा, वृंदावन, ऋषीकेश तथा हरिद्वार जैसे तीर्थों में रहते हैं, एवं गंगा-जमुना सदृश पुण्य नदियों के स्थान पर एकांत में योग का अभ्यास करते हैं।" (*भ.गी.* ६.११-१२, तात्पर्य)। कृष्ण भक्तों हेतु, सबसे पावन तीर्थस्थान मथुरा-मंडल है जिसके अंतर्गत मथुरा तथा वृंदावन आते हैं। रूप गोस्वामी भक्ति-योग के पाँच मुख्य सिद्धांतों मे से एक के रूप में मथुरा-मंडल वास का प्रस्ताव रखते हैं, तथा श्रील प्रभुपाद रूप गोस्वामीकृत *भक्तिरसामृतसिन्धु* के अपने सार-अध्ययन में मथुरा-मंडल की महिमा इस प्रकार गाते हैं :

> भगवान् कृष्ण का शुद्ध भक्त मथुरा या वृंदावन जिलों में निवास करता है तथा कृष्ण की समस्त लीला-स्थलियों का भ्रमण करता है.... वास्तव में, यदि कोई वृंदावन जाये, तो वह तुरंत कृष्ण से विरह की अनुभूति करेगा, जिन्होंने वहाँ उपस्थित होने के समय इतनी अनुपम लीलाएँ की थीं। (भक्तिरसामृतसिंधु, पृष्ठ १३९)

श्रील प्रभुपाद ने चैतन्य महाप्रभु की जन्मस्थली, मायापुर, तथा वृंदावन में मंदिरों की स्थापना हेतु अथक परिश्रम किया, जिससे विदेशी वहाँ आकर धाम-वास से शुद्ध हो सकें। वृंदावन के संबंध में श्रील प्रभुपाद कहते हैं, "चौरासी कोस के मथुरा क्षेत्र में सब स्थान जमुना तट पर इतने मनोहर रूप से स्थित हैं कि एकबार वहाँ जाने वाला फिर कभी इस भौतिक संसार

में लौटना नहीं चाहेगा.... मथुरा या वृंदावन में प्रवेश करते ही अनेवार्यतः दिव्य भाव स्फुरित होते हैं" (*भक्तिरसामृतसिन्धु*)। एकांतवास का आवश्यक लाभ यह है कि वह सांसारिक लोगों तथा वासनाओं से छुटकारा दिलाता है। भक्तों के लिए इसे *धाम* में ही, समान मनःस्थिति वाले जीवों के संग में, श्रेष्ठ रूप से प्राप्त किया जा सकता है।

नारद यह भी कहते हैं कि माया को तरने के इच्छुक को भौतिक आसक्ति के बंधनों को तोड़कर प्रकृति के गुणों से ऊपर रहना चाहिए। ये कृष्णभावनाभावित जीवन के कुछ स्वाभाविक परिणाम हैं। *भगवद्गीता* के चौदहवें अध्याय में भगवान् कृष्ण व्याख्या करते हैं कि प्रकृति के तीन गुण—सत्व, रजस, एवं तमस—किस प्रकार जीव को संसार में बाँधते हैं। गुणों से मुक्त होने हेतु, व्यक्ति को गुरु से सत्य का श्रवण करना होता है। तब व्यक्ति क्रमशः अपना आदि आध्यात्मिक स्वभाव समझेगा तथा जानेगा कि गुणों में कोई कैसे फँसता है? यदि व्यक्ति अध्यात्मवादियों के संग रहकर उनके साथ भगवान् कृष्ण की सेवा करे तो वह सत्व, रजस तथा तमस गुणों द्वारा नियंत्रित नहीं होगा। आचार्यगण हमें बताते हैं कि वन में रहना सतोगुण में स्थित होना है, शहर में रहना रजोगुण में है, तथा वेश्यालय में रहना तमोगुण में है—किन्तु, भक्तों के समाज में, विष्णु-मंदिर में रहना वैकुण्ठ है। वास्तव में, 'एकांत तथा पुण्य स्थान' में रहने का अन्य अर्थ भगवद्-मंदिर का वास है। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "इस भक्ति-योग पद्धति में, मंदिर को पुण्य स्थान माना जाता है। मंदिर *निर्गुण,* दिव्य है।" (*सिद्धि-पथ, पृष्ठ. ३८*) नारदजी प्राप्ति तथा संरक्षण की चिंताओं को त्यागने का भी प्रस्ताव रखते हैं : *योग-क्षेमं त्यजति*। भगवान् कृष्ण भी *भगवद्गीता* (९.२२) में *योग-क्षेम* का वर्णन करते हैं :

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।

"किन्तु वे, जो अनन्य भक्ति से मेरे दिव्य रूप का ध्यान करते हुए सदैव मेरी उपासना करते हैं—उनके लिए मै अप्राप्त का प्रदान करता हूँ तथा प्राप्त का संरक्षण करता हूँ।"

भरण-पोषण हेतु भगवान् पर निर्भरता आध्यात्मिक जीवन की उच्च अवस्था है, किन्तु यह कल्पना पर आधारित नहीं होती। सिद्धांत यह है कि व्यक्ति को अपनी नितान्त आवश्यकता से अधिक की इच्छा नहीं करनी चाहिए। उससे परे की कोई भी इच्छा केवलमात्र चिंता का कारण बनेगी। किसी भी विकल्प में, भले कोई निर्धन ब्राह्मण, भिक्षु संन्यासी, व्यवसायी, या किसी धार्मिक संस्था का व्यवस्थापक हो, उसे

भगवान् को ही यथार्थ पालनकर्ता समझना चाहिए। यदि हम कृष्ण की सेवा में संलग्न रह कर तथा अनावश्यक माँगों की सृष्टि न करके सादा जीवन जियें, तो हम निर्वाह की चिंताओं को कम कर सकेंगे एवं नारद मुनि द्वारा संस्तुत *योग-क्षेमं त्यजति* के मर्म में प्रवेश कर सकेंगे।

सूत्र ४८

यः कर्मफलं कर्माणि सन्यस्यति ततो निर्द्वन्द्वो भवति॥ ४८॥

यः—जो; **कर्मफलं**—कर्मफल; **कर्माणि**—उसके कर्म; **सन्यस्यति**—त्याग देता है; **ततः**—अतः; **निर्द्वन्द्वः**—द्वन्द्व से अप्रभावित; **भवति**—बन जाता है।

अनुवाद

(माया को कौन तर सकता है?) वह व्यक्ति जिसने भौतिक कर्तव्यों तथा उनके लाभों का त्याग करके द्वन्द्व का अतिक्रमण किया हो।

तात्पर्य

भक्त को विश्वास होता है कि भगवान् कृष्ण उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह आलसी तथा अक्रिय हो जाए। वह कृष्ण के लिए कार्य करता है। भगवान् के प्रति सारी क्रियाओं को समर्पण करके, भक्त कर्मफलों से मुक्त हो जाता है। जब तक व्यक्ति प्रकृति के गुणों के प्रभाव में कार्यरत रहता है, उसे द्वन्द्वों—अच्छा बुरा, ठंडा-गरम, धनी-निर्धन, सुख-दुख, इत्यादि—का अनुभव करना ही होगा। जैसा भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (७.२७) में कहते हैं,

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥

"हे भरतश्रेष्ठ, हे परन्तप, सारे जीव मोह में जन्मते हैं तथा इच्छा-द्वेष से उत्पन्न द्वन्द्वों से विभ्रमित होते हैं।" और अपने तात्पर्य में, प्रभुपाद व्याख्या करते हैं,

विभ्रमित लोग, लाक्षणिक रूप से, मान-अपमान, सुख-दुख, स्त्री-पुरुष,

अच्छा-बुरा, आदि के द्वन्द्वों में रहते हैं। वे सोचते हैं, "यह मेरी पत्नी है; यह मेरा घर है; मैं इस घर का मालिक हूँ; मैं इस पत्नी का पति हूँ।" यह विभ्रम के द्वन्द्व हैं। द्वन्द्वों द्वारा इस प्रकार विभ्रमित लोग निरे मूर्ख होते हैं और इसलिए परम पुरुषोत्तम भगवान् को नहीं समझ सकते।

द्वन्द्व का विभ्रम स्वयं को शरीर मानने से उत्पन्न होता है। जब व्यक्ति यह समझ जाता है कि वह शरीर नहीं अपितु कृष्ण का नित्य दास है, तो द्वन्द्व का विभ्रम उसके लिए समाप्त हो जाता है। एक भक्त भौतिक संसार में रहते हुए भी द्वन्द्व के बंधनों को तोड़ सकता है। जब कोई भक्त शारीरिक सर्दी-गर्मी, सुख-दुख का अनुभव करता है, तो वह उसे शरीर के संदर्भ में देखता है, तथा बिना विकर्षित हुए अपनी सेवा का पालन करता रहता है। *भगवद्गीता* के पूर्वार्द्ध में भगवान् कृष्ण अर्जुन को सुख या दुख, दोनों में स्थितप्रज्ञ रहने को कहते हैं। बाद में, कृष्ण द्वन्द्व का अतिक्रमण करने वाले भक्त के प्रति अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हैं : "जो न हर्ष करता है न शोक, जो न पश्चाताप करता है न आकांक्षा, और जो शुभ एवं अशुभ दोनों वस्तुओं का परित्याग करता है—ऐसा भक्त मुझे बहुत प्रिय है।" (*भ. गी.* १२.१७)

अब तक यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि भक्ति केवल "प्रेम" के पुण्य विचार नहीं, अपितु अभय कर्म है। नारद पूर्ण शरणागति तथा भगवदिच्छा के प्रति पूर्ण समर्पण से कम की माँग नहीं करते। किन्तु यदि किसी पड़ाव पर व्यक्ति नारद द्वारा शिक्षित आदर्शों तक पहुँचने में स्वयं को असमर्थ अनुभव करे, तो वह निंदायोग्य नहीं। भगवान् कृष्ण भी कहते हैं कि यदि हम सर्वोच्च शरणागति की प्रप्ति न कर पायें, तो हमें सामर्थ्य के अनुसार कार्य करना चाहिए तथा क्रमशः प्रगति करने का प्रयास करना चाहिए (देखें *भगवद्गीता* १२.८-१२)। किन्तु हमें भगवान् कृष्ण के प्रति पूर्ण शरणागति की असमर्थता के संबंध में विनम्र होना चाहिए। हमें अपनी दुर्बलता की सफाई देने हेतु अटल शिक्षाओं को बदलने का प्रयास नहीं करना चाहिए। नारद तथा वैष्णव आचार्यगण हमें भक्त बनने हेतु अपने जीवन बदलने को कह रहे हैं, क्योंकि एकमात्र उसी से हम नित्य सुखी हो सकेंगे। यह परिवर्तन लाने में कठिनाइयों के अनुभव होने का कारण हमारी भौतिक आसक्तियाँ हैं।

भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (३.३०) में कड़ा आदेश देते हैं :

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धयस्व विगतज्वरः॥

"हे अर्जुन, अपने सारे कार्यों को मुझे समर्पित करके, मेरे पूर्ण ज्ञान में, लाभ

की इच्छाओं से रहित, ममत्व के दावों से रहित, एवं आलस्य से मुक्त होकर, युद्ध करो।" और श्रील प्रभुपाद भी दृढ़ थे; अपने अनुयायियों को सतर्क करते थे, "आराम का जीवन तथा कृष्णभावनामृत बेमेल होते हैं।" माया हमें आराम करने तथा भौतिक संसार में पड़े रहने का निर्देश देती है, किन्तु उसके प्रस्ताव केवल एक धोखा हैं। वे हमें भक्तिमय सेवा में तपस्याएँ न करने को कहेगी, किन्तु यदि हम उसके प्रभाव में पड़े, तो हमें जन्म जन्मांतर तक उद्यम करने तथा निम्न योनियों में पीड़ा पाने को बाध्य होना पड़ेगा। नारद हमें माया के सागर को तरने हेतु अभी थोड़ी कठिनाई उठाने तथा हमेशा के लिए पीड़ामुक्त हो जाने को कह रहे हैं।

सूत्र ४९

यो वेदानपि सन्यस्यति केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते॥ ४९॥

यः—जो; **वेदान्**—वेद; **अपि**—भी; **सन्यस्यति**—त्याग; **केवलम्**—केवल; **अविच्छिन्न**—सतत; **अनुरागं**—प्रेमपूर्ण आकर्षण; **लभते**—प्राप्त करता है।

अनुवाद

वेदों का भी त्याग कर देने वाला व्यक्ति भगवान् के प्रति एकनिष्ठ तथा सतत अनुराग का लाभ करता है।

तात्पर्य

"वेदों के त्याग" से नारद का तात्पर्य *वेदों* के *कर्म-कांडीय* अंशों में प्रस्तावित सकाम यज्ञों के त्याग से है। यह यज्ञ सकाम कर्मफलों के इच्छुक लोगों हेतु होते हैं। भगवान् कृष्ण अर्जुन को परामर्श देते हैं, "*वेद* मुख्यतः भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के विषय से संबंधित होते हैं। हे अर्जुन इन तीन गुणों से परे हो जाओ.... एक छोटे कुँए से सेवित सभी उद्देश्य एक बड़े जलाशय से तुरंत पूर्ण हो सकते हैं। इसी प्रकार, वेदों के समस्त उद्देश्य उनके पीछे का उद्देश्य जानने वाले के लिए पूर्ण होते हैं।" (*भ.गी.* २.४५-४६) *कर्म-कांडीय* निर्देश क्रमशः प्रगति हेतु होते हैं, किन्तु परम लक्ष्य तो सर्वकारणों के कारण, भगवान् कृष्ण, को जानना है (देखें *भगवद्गीता* १५.१५) यदि कोई नियमों के प्रति ही आसक्त हो, और लक्ष्य के प्रति नहीं, तो वह दिव्य स्तर तक नहीं उठ सकता।

इसी प्रकार, *वेदांत-सूत्र* का अध्ययन भगवान् कृष्ण को समझने हेतु होता है।

श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "वेदांत वैदिक-ज्ञान का परमोत्कर्ष है, और वेदांत दर्शन के रचयिता तथा ज्ञाता भगवान् कृष्ण हैं; और सर्वोच्च वेदांती वह है जो भगवान् के पवित्र नाम के उच्चारण में आनंद लेता हो।" (*भ.गी.* २.४६, तात्पर्य)

श्रील व्यासदेव *श्रीमद्भागवतम्* का प्रारंभ इस घोषणा से करते हैं कि धर्म के निम्न रूपों की शिक्षा नहीं दी जायेगी : *धर्मः प्रोज्झित कैतवः*। *भागवत-पुराण* में केवल शुद्ध भक्तिमय सेवा की ही शिक्षा दी गई है। भगवान् कृष्ण भी अर्जुन के प्रति अपने निर्देशों की समाप्ति उसको यह परामर्श देते हुए करते हैं : *सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज* "सब प्रकार के विभिन्न धर्मों का परित्याग करके बस मुझमें शरणागत हो जाओ।" (*भ.गी.* १८.६६)

फिर भी, यद्यपि शुद्ध भक्त वेदों के कर्म-कांडीय अंशों की अवहेलना करता है तथा *भक्ति* के अतिरिक्त धर्म के सारे रूपों का परित्याग कर देता है, तथापि वह कभी भी भक्ति-शास्त्रों का विरोध नहीं करता अथवा उनके निर्देशों का पालन नहीं छोड़ता। वास्तव में, मुक्तात्माएँ सदैव *श्रीमद्भागवतम्, चैतन्य-चरितामृत* एवं वृंदावन के छः गोस्वामियों के दिव्य ग्रंथों के द्वारा परम पुरुषोत्तम भगवान् की लीलाओं के श्रवण का आस्वादन करती हैं। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "*श्रीमद्भागवतम्*... विशुद्ध दिव्य ग्रंथ है जिसे स्पर्धित इंद्रियतृप्ति से परे स्थित शुद्ध भक्त ही समझ सकते हैं" (*भागवत* १.१.२, तात्पर्य)। श्रील व्यासदेव कहते हैं, "हे विचारशील भक्तो, जब तक तुम दिव्य आनंद में मग्न नहीं हो, तुम *श्रीमद्भागवतम्* का आस्वादन करते रहो, एवं जब तुम आनंद में पूर्णतः मग्न हो जाओ तो भी नित्य उसके रसों का आस्वादन करते रहो।" (*भागवत* १.१.३)। नैमिषारण्य के ऋषिगण आह्वान करते हैं, "हम उत्तमश्लोक भगवान् के व्यक्तित्व की दिव्य लीलाओं का श्रवण करने में कभी नहीं थकते। उनके संग में आनंदानुभव करने वाले प्रतिक्षण उनकी लीलाओं के श्रवण का आस्वादन करते हैं।" (*भागवतम्* १.१.१९)

मुक्त ब्रह्मज्ञानी महात्मागण भी *श्रीमद्-भागवतम्* में कृष्ण के वर्णनों के प्रति आर्कषित हो गए थे। जैसा शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित को बताया, "मेरे प्रिय राजन, यद्यपि मैं दिव्य स्थिति में पूर्णतः स्थित था, फिर भी मैं भगवान् कृष्ण की लीलाओं के प्रति आकर्षित हुआ। अतः मैंने अपने पिताश्री से *श्रीमद्भागवतम्* का अध्ययन किया।" (*भागवत* २.१.९)। एवं चैतन्य महाप्रभु, स्वयं भगवान् होते हुए भी, *भागवतम्* तथा अन्य वैष्णव साहित्य और वैष्णव संतों के काव्यों के श्रवण का सदैव आस्वादन करते रहते थे। उनकी चर्चा वे अपने अंतरंग भक्तों से करते थे। अतः *वेदों के कर्म-कांडीय* नियमों के त्याग का अर्थ भगवान् कृष्ण की नित्य लीलाओं का त्याग नहीं है।

सिद्धि हेतु संघर्षरत लोगों के लिए अवश्य ही वेदों के संबद्ध अंश त्याज्य नहीं हैं। किन्तु कभी-कभी स्वतःस्फूर्त अवस्था के भक्त वैदिक रीतियों के विरोधी प्रतीत होते हैं। एक बार सार्वभौम भट्टाचार्य को इस स्वतःस्फूर्त प्रेमावस्था की व्याख्या महाराज प्रतापरुद्र से करनी पड़ी थी। महाराज ने पुरी आ रहे चैतन्य महाप्रभु के भक्तों को किन्हीं पारम्परिक नियमों का पालन नहीं करते हुए देखा था। महाराज ने सार्वभौम से पूछा, "उन्होंने तीर्थस्थल में आने के नियमों, यथा उपवास व मुंडन का पालन क्यों नहीं किया? उन्होंने सर्वप्रथम प्रसादम् क्यों खा लिया?" सार्वभौम ने महाराज को उत्तर दिया, "आपने जो कहा वह पुण्य स्थानों में आने के नियमों के अनुसार ठीक है, परन्तु एक अन्य मार्ग है, जो स्वतःस्फूर्त प्रेम का मार्ग है। उसके सिद्धांतों के अनुसार, धार्मिक सिद्धातों के सम्पादन में सूक्ष्म जटिलतायें निहित हैं" (*चै.च. मध्य* ११.१११-१२)। चूँकि चैतन्य महाप्रभु व्यक्तिगत रूप से उपस्थित थे तथा स्वयं अपने करकमलों से प्रसादम् बाँट रहे थे, अतः उनके अंतरंग भक्तों ने उपवास करने के निषैधिक सिद्धांत की उपेक्षा कर दी।

नारद "केवलम्" शब्द का प्रयोग करते हैं, जिससे निर्देश मिलता है कि कृष्ण-प्रेम को अनन्य तथा विशुद्ध होना चाहिए। नारद द्वारा शिक्षित *भक्ति* कोई अल्पकालीन सेवा नहीं, या किसी विशिष्ट सीमा तक रहने वाली भक्ति नहीं। स्वतःस्फूर्त अवस्था में, भक्ति के अतिरिक्त समस्त सोच-विचार गौण हैं, जैसा गोपियों द्वारा परिवार तथा लौकिक सोच-विचार के त्याग में हुआ। गोपियों ने जानबूझकर अपने कर्तव्यों का तिरस्कार नहीं किया, किन्तु वे कृष्ण के पास जाने के अतिरिक्त कुछ भी सोचने में असमर्थ मात्र थीं।

जब भक्त नारद द्वारा यहाँ वर्णित अवस्था पर पहुँच जाता है, तो उसकी भक्तिमय सेवा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती है। महारानी कुन्ती उस अवस्था की अपेक्षा करती थीं : "हे मधुसूदन।" उन्होंने प्रार्थना की, "जिस प्रकार गंगा निर्विघ्न रूप से सागर की ओर बहती है, मेरा आकर्षण भी किसी अन्य के प्रति न मुड़ता हुआ सदैव आपकी ही ओर बना रहे" (*भागवत* १.८.४२)। श्रील प्रभुपाद नारद मुनि की भक्तिमय सेवा के स्वयं प्रवाह की व्याख्या करते हैं :

> भक्तिमय सेवा का ऐसा प्रवाह कभी रुक नहीं सकता। इसके विपरीत, वह असीमित रूप से अधिकाधिक बढ़ता है। भक्तिमय सेवा का प्रवाह इतना प्रबल है कि कोई दर्शक भी रजस व तमस गुणों के प्रभाव से मुक्त हो जाता है। (*भागवत* १.५.२८, तात्पर्य)

नवदीक्षित भक्तगण कदाचनिक उत्साह की शिकायत करते हैं। वे कभी-कभी

कृष्ण के श्रवण-कीर्तन को उत्सुक होते हैं, किन्तु अन्य समयों पर वे इंद्रिय सुख तथा कृष्णभावनामृत के प्रति अरुचि के विचारों द्वारा पीड़ित होते हैं। यह उतार-चढ़ाव का संलक्षण नौसिखियों के लिए अस्वाभाविक नहीं। प्रत्येक जीव की आदि स्थिति भगवत्प्रेम के स्वतःस्फूर्त प्रवाह का अनुभव करना है, किन्तु यह प्रेम भौतिक जगत में असंख्य लाखों वर्षों के अनुबंधन से आवृत हो गया है। इस अनुबंधन से उबरना दुष्कर है। अतः भक्ति की प्रारम्भिक अवस्थाओं में, दृढ़ता परम महत्त्वपूर्ण है। साथ ही, हम नारद द्वारा वर्णित एवं प्रेम-भक्ति में भगवान् की सेवा में लगे भक्तों द्वारा प्रदर्शित स्वतःस्फूर्त प्रेम की वास्तविकता से प्रेरणा ले सकते हैं।

सूत्र ५०

स तरति स तरति लोकांस्तारयति॥ ५०॥

सः—वह; **तरति**—तरता है; **सः**—वह; **तरति**—तरता है; **लोकान्**—इस संसार के लोग; **तारयति**—तारता है।

अनुवाद

ऐसा व्यक्ति अवश्य ही तरता है, तथा वह शेष जगत को भी तारता है।

तात्पर्य

नारद "वह तरता है" की पुनरावृत्ति करते हैं जिससे कोई संशय न रह जाए। संशयी व्यक्ति प्रश्न करता है, "क्या कोई वास्तव में माया से तरा है?" संशय मत करो, नारद कहते हैं : शुद्ध भक्त माया को तरता है, तथा वह तुम्हें भी तार सकता है।

श्रील प्रभुपाद के कई शिष्यगण इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि उन्होंने उन्हें व्यक्तिगत रूप से माया से निकाला था। जब मैं सर्वप्रथम प्रभुपाद से मिला, मैंने उनसे पूछा, "क्या आध्यात्मिक प्रगति का कोई ऐसा स्तर है जिससे फिर व्यक्ति वापस न गिरे?" प्रभुपाद बोले, "हाँ"। और उनके उत्तर ने मुझे आश्वस्त किया। किसी पुस्तक में पूर्ण उत्तर मेरे लिए पर्याप्त न होता। यद्यपि महात्मागण आत्म-प्रशंसक नहीं होते, तथापि वे व्यक्तिगत रूप से मंचन करते हैं कि मुक्त पुरुष वास्तव में होते हैं, तथा वे हमारी मदद कर सकते हैं। जैसा कि देवताओं ने देवकी के

गर्भस्थित कृष्ण को अपनी प्रार्थनाओं में कहा था, "जब आचार्यगण अविद्या के विकट सागर को पार करने हेतु आपके चरणकमलों का पूर्णाश्रय लेते हैं, तो वे अपने तरने की पद्धति को इस धरती पर छोड़ जाते हैं, एवं चूँकि आप अपने अन्य भक्तों के प्रति अत्यंत दयालु होते हैं, आप उनकी सहायता हेतु इस पद्धति को स्वीकार करते हैं" (*भागवत* १०.२.३१)। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं :

> यदि वस्तुओं को सरल कर दिया जाए तो इसके द्वारा उनको सरल बनाने वाले व्यक्ति तथा उन्हीं सिद्धांतों का अनुसरण करने वाले व्यक्तियों को सुविधा होती है। अविद्या के सागर को पार करने की संस्तुत पद्धति केवल भक्त के लिए ही सरल नहीं होती, अपितु भक्त का अनुसरण करने वाले सामान्य व्यक्तियों के लिए भी सरल होती है (*महाजनो येन गतः स पन्थाः*) (*भागवत* १०.२.३० तात्पर्य)

शुद्ध भक्त कई प्रकार से दूसरों की सहायता करते हैं। वे कभी-कभी उपदेश देते हैं, तथा अन्य समयों पर भक्त और अभक्त, दोनों से मिलते हैं। जब लोग अधिक गम्भीर निर्देशों हेतु आगे आते हैं, तो शुद्ध भक्त गुरु की भूमिका निभाता है तथा परम पुरुषोत्तम भगवान् की सेवा करने हेतु शिष्यों को प्रशिक्षण देता है। कभी कभी शुद्ध भक्त लेखक बन जाते हैं। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "ऐसी पुस्तकों को मुद्रित करना *आचार्य* का कर्तव्य है जिनसे भावी प्रत्याशियों को सेवा की विधि ग्रहण करने में मदद मिले एवं भगवत्कृपा से भगवद्धाम लौटने की योग्यता प्राप्त हो।" कभी-कभी मुक्तात्मा पुरुष ऐसे शिष्य बनाते हैं जो फिर अपने गुरु के उदाहरण का अनुगमन करते हुए बाहर जाकर प्रचार करें। महात्मागण कभी-कभी ऐसे आंदोलनों या संस्थाओं का प्रारंभ करते हैं जिनमें भक्तगण रह सकें तथा भक्ति का अभ्यास कर सकें। एवं कभी-कभी वे मंदिर निर्माण करते हैं जहाँ जनता भगवान् कृष्ण के विग्रह रूप का दर्शन कर सके तथा प्रसादम् का स्वाद ले सके। अतः व्यक्तिगत उदाहरण तथा शिक्षा द्वारा, एवं मर्त्य लोक से अपने तिरोभाव के पश्चात् भी, महात्मागण उन बद्धजीवों की मदद करते हैं जो अपने कृष्ण-प्रेम को भूल गए हैं। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर के उद्‌गारों के अनुसार,

> "वह कुतर्की है जो कहे कि वैष्णवजन मरते हैं, क्योंकि वे तो ध्वनितरंगों में जीवित रहते हैं। वैष्णव जन जीने के लिए मरते हैं, एवं भगवन्नाम के प्रचारार्थ जीते हैं।"

अध्याय ४

शुद्ध एवं मिश्र भक्ति

सूत्र ५१

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥ ५१॥

अनिर्वचनीयं—वर्णन से परे; **प्रेम**—परिपक्व भगत्वप्रेम; **स्वरूपम्**—अनिवार्य परिचय।

अनुवाद

शुद्ध भगवत-प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है।

तात्पर्य

यद्यपि नारद प्रारंभिक अवस्था से परा-भक्ति तक *भक्ति* का प्रवीण विश्लेषण करते रहे हैं, तथापि वे अब कहते हैं कि वह अनिर्वचनीय है। भक्ति, विशेष रूप से अयोग्य व्यक्तियों हेतु, अबोधगम्य है। जब तक व्यक्ति श्रद्धा से भक्ति का अभ्यास न करे, वह साधु से पूछनेमात्र द्वारा उसे कैसे जान सकता है? कभी कभी जब भक्तगण श्रील प्रभुपाद से ऐसे विषयों पर प्रश्न करते थे जो उनकी समझने की सामर्थ्य से परे हों, तो प्रभुपाद एक बालक द्वारा संभोग-सुख समझने के प्रयास की उपमा देते थे। चूँकि बालक शारीरिक रूप से अपरिपक्व होता है, वह नहीं जान सकता कि संभोग क्या है, किन्तु वयस्क होने पर वह स्वयं समझ जाता है। जब मैंने सर्वप्रथम प्रभुपाद की *"चैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत"* की हस्तलिपि को टाइप करना प्रारंभ किया, तो मैं परा भक्ति के कुछ गूढ़ पक्षों के विषय में जिज्ञासु था। चैतन्य महाप्रभु ने व्याख्या की थी कि जब भक्त पूर्णता तक पहुँच जाता है, तो वह वृंदावन के एक विशिष्ट नित्य निवासी के अनुगमन का चयन करता है एवं उस निवासी से अपने रस के बारे में जानता है। १९६७ के मार्च में, मैंने प्रभुपाद से इस विषय पर अधिक जानने हेतु उन्हें पत्र लिखा। उन्होंने निम्नलिखित उत्तर दिया

> जब हम भक्तिमय सेवा के पूर्ण स्तर पर होते हैं, तो हम कृष्ण से अपने नित्य संबंध को जान सकते हैं, एवं भगवान् कृष्ण का एक पार्षद हमारा आदर्श नेता बन जाता है। भगवान् के नित्य पार्षदों में से एक के नेतृत्व को स्वीकारना कृत्रिम नहीं। अतः अभी इसका प्रयास मत करो; उपयुक्त समय पर तुम्हें यह स्वयमेव प्रकाशित होगा।

ऐसा नहीं है कि केवल अपरिपक्व युवक भक्तगण ही *परा-भक्ति* समझने से प्रतिबंधित हों। भक्ति का यह उन्नत स्तर प्रकांड विद्वानों की भी समझ-सामर्थ्य से परे है। कृष्णदास कविराज लिखते हैं, "भगवान् कृष्ण की लीलाएँ असामान्य रूप से दिव्य शक्तिपूर्ण हैं। यह इन लीलाओं का लक्षण है कि वे प्रायोगिक तर्क व बहस की परिधि में नहीं आतीं" (*चै.च. अन्त्य* १९.१०३)। रूप गोस्वामी इस कथन की प्रतिध्वनि करते हैं : "जिसके हृदय में भगवत्प्रेम जागृत हो गया हो, उस उन्नत व्यक्ति की क्रियाएँ तथा लक्षण परम विद्वान पंडित द्वारा भी समझी नहीं जा सकतीं।" (*भक्तिरसामृतसिन्धु* १.४.१७)

भक्ति को अनिर्वचनीय कहना बाहरी व्यक्ति को दिया गया टालमटोल का उत्तर मात्र नहीं है। विशेषकर उच्च अवस्थाओं में, भक्ति अचिन्त्य है। भगवत्प्रेम का सबसे गाढ़ प्रकाश चैतन्य महाप्रभु द्वारा हुआ था। जैसा *चैतन्य-चरितामृत* में वर्णन है, श्रीकृष्ण अपने प्रति राधारानी के प्रेम को जानना चाहते थे, एवं इसलिए वे चैतन्य महाप्रभु के रूप में प्रकट हुए। चैतन्य महाप्रभु के आह्लादपूर्ण भाव तथा अभिव्यक्तियाँ स्वरूप दामोदर गोस्वामी द्वारा लिखित टिप्पणियों के रूप से संगृहित, रघुनाथ दास गोस्वामी द्वारा स्मरित, एवं रघुनाथ दास द्वारा कृष्णदास कविराज गोस्वामी को कथित हुई थीं। किन्तु *चैतन्य चरितामृत* में इन लीलाओं को बताते हुए, कृष्णदास कविराज ने अपनी सीमाओं को स्वीकार किया है :

> सहस्रमुखों वाले अनंतदेव भी चैतन्य महाप्रभु द्वारा एक दिन में अनुभव किए गए आह्लादपूर्ण परिवर्तनों का पूर्ण वर्णन नहीं कर सकते। मुझ जैसा क्षुद्र जीव उन परिवर्तनों का क्या वर्णन करेगा? मैं तो पेड़ की शाखाओं में से चंद्र को दिखाने के समान उनका कुछ संकेतमात्र ही दे सकता हूँ। फिर भी, यह वर्णन किसी भी श्रोता के मन और कानों को तृप्त करेगा, और वह कृष्ण-प्रेम की इन असामान्य क्रियाओं को समझ पायेगा। कृष्ण के प्रति प्रेम विस्मयकारी रूप से गहन होता है। उस प्रेम की महिमामयी मिठास का स्वयं आस्वादन करके, श्रीचैतन्य महाप्रभु ने हमें उसकी नितांत सीमाओं का

दर्शन कराया। (*चै.च. अन्त्य* १७.६४-६७)

यद्यपि *प्रेम-भक्ति* शब्दों से परे है, तथापि अधिकृत भक्तों द्वारा जो कुछ भी वर्णित होता है वह सब गम्भीर तथा श्रद्धालु लोगों द्वारा सराहा जाता है।

कृष्णदास कविराज कहते हैं,

> बस श्रद्धा से इन विषयों का श्रवणमात्र करो, क्योंकि उनका श्रवणमात्र करने में महान सुख है। वह श्रवण शरीर, मन तथा अन्य प्राणियों से संबद्ध सारे क्लेशों का, एवं मिथ्या तर्कों के दुख का भी नाश कर देगा। (*चै.च. अन्त्य* १९.११०)

एक वैष्णव भगवान् कृष्ण या भगवान् चैतन्य महाप्रभु की लीलाओं की तुलना असीम आकाश से करता है। आकाश में कई पक्षी उड़ते हैं, किन्तु कुछ अपनी सामर्थ्य के अनुसार ऊँचे उड़ते हैं। भक्तों के समाज में, आत्मानुभवी जीव अपने अनुभव बाँटते हैं, किन्तु कोई भी व्यक्ति कृष्ण के *समस्त* गुणों अथवा लीलाओं का वर्णन करने की परिकल्पना नहीं करता। अतएव भक्ति आंशिक रूप से अभिव्यक्त की जा सकती है, परन्तु उसकी संपूर्णता अचिन्त्य तथा अनिर्वचनीय है। जब चैतन्य महाप्रभु रूप गोस्वामी को शिक्षा देने वाले थे, तो उन्होंने कहा,

> मेरे प्रिय रूप, कृपया मुझे सुनो। भक्ति का पूर्ण रूप से विवरण करना संभव नहीं है; अतः मैं तुम्हें भक्तिमय सेवा के लक्षणों का सारांश देने का ही प्रयास कर रहा हूँ। भक्तिमय सेवा के दिव्य रस का सागर इतना विस्तृत है कि कोई उसकी लंबाई व चौड़ाई का अनुमान नहीं लगा सकता। फिर भी, तुम्हें इसका स्वाद लेने में मदद करने के लिए, मैं इसकी एक बूँद मात्र का वर्णन कर रहा हूँ। (*चै.च. मध्य* १९.१३६-३७)

सूत्र ५२

मूकास्वादनवत्॥ ५२॥

मूका—गूँगे के; **आस्वादन**—आस्वादन; **वत्**—जैसा।

अनुवाद

(शुद्ध भगवत्प्रेम के अनुभव का वर्णन करने का प्रयास) गूँगे

के स्वाद को उसके द्वारा वर्णन करने के प्रयास के समान है।

तात्पर्य

संभव है कि एक योग्य भक्त भी भगवत्प्रेम के अपने सटीक अनुभव को शब्दों में व्यक्त न कर पाये। अनुभव की अभिव्यक्ति हेतु भाषा की अपनी सीमाएँ होती हैं, किन्तु वह वृक्ष की शाखा की भाँति आकाश में हमें चंद्र को निर्दिष्ट करने में सहायता देने का काम कर सकती है। रूप गोस्वामी से, भक्ति की क्रमशः प्रगति का वर्णन करने में, चैतन्य महाप्रभु ने उसकी मिठास की वर्धनकारी स्वाद से तुलना की :

> भगवत्प्रेम की उत्तरोत्तर प्रगति की तुलना शक्कर की विभिन्न अवस्थाओं से की जा सकती है। सर्वप्रथम गन्ने का बीज होता है, फिर गन्ना, और फिर गन्ने से निचुड़ा रस। जब इस रस को उबाला जाता है, तो वह तरल शीरा बन जाता है, फिर ठोस शीरा, फिर शक्कर, मिश्री, मिश्री की डली, एवं अंत में चूष बन जाता है।

चैतन्य महाप्रभु सात्त्विक और व्यभिचारी भक्ति-भावों के सम्मिश्रण का वर्णन करते गए : "ये स्वाद दही, मिश्री, घी, काली मिर्च, कपूर के सम्मिश्रण के समान हैं, तथा मीठे अमृत की भाँति स्वादिष्ट हैं" (*चै.च मध्य* १९.१८२)। इस भाषा में कुछ भी धोखा या अपूर्णता नहीं है और तथापि यह भाषा है—आकाश में चंद्र का निर्देश करने वाली शाखा। भगवत्प्रेम के स्वाद का श्रवण करने के पश्चात्, भक्त को उस प्रेम की अपेक्षा करनी चाहिए तथा भक्तिमय सेवा का अभ्यास करना चाहिए जिससे वह स्वयं उसका आस्वादन कर सके।

नारद यह नहीं कहते कि भक्ति की विषयवस्तु इतनी अस्पष्ट तथा अचिन्त्य है कि उसको कदापि जाना या बोला नहीं जा सकता। उनका तात्पर्य है कि उसका व्यक्तिगत तथा परम अनुभव इतना अद्‌भुत है कि उसका वर्णन कठिन है। किसी को सहजता से यह नहीं कहना चाहिए, "मैं कृष्ण-प्रेम के विषय में सबकुछ जानता हूँ।" यद्यपि गोपियाँ सदैव भगवान् कृष्ण का महिमागान करती रहती थीं, कभी-कभी वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाती थीं। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं,

> सुख एवं प्रगाढ़ भावों के आध्यात्मिक अनुभवों की कोई भौतिक तुलना नहीं है। अतएव ऐसे अनुभवों को अभिव्यक्त करना अत्यंत कठिन है। हम श्री नारदमुनि के शब्दों में इस परमानंद की झलक मात्र पा सकते हैं। (*भागवत*. १.६.१७, तात्पर्य)

सूत्र ५३

प्रकाश्यते क्वापि पात्रे॥५३॥

प्रकाश्यते—प्रकाशित होता है; **क्वापि**—कभी कभी; **पात्रे**—उपयुक्त ग्रहणकारी को।

अनुवाद

फिर भी, समय-समय पर योग्य अधिकारियों (पात्रों) के प्रति शुद्ध भगवत्प्रेम को प्रकाशित किया जाता है।

तात्पर्य

महाभागवत भक्त या स्वयं भगवान्, *भक्ति-योग* के अनिर्वचनीय अर्थों को समझने में योग्य प्रत्याशी को पाकर प्रसन्न होते हैं। कृष्णभावनामृत में ज्ञान का प्रसार, एक अर्थ में, बहुत सीधी पद्धति है। श्रील प्रभुपाद उस शिष्य की कहानी की निंदा करते थे जिसने कहा था कि उसे अपने *गुरु* से ज्ञान-प्राप्ति बिजली का झटका लगने के समान विधि द्वारा हुई थी। भगवान् कृष्ण ने प्रश्नोत्तर की विधि द्वारा अर्जुन को शिक्षित किया था, एवं कोई अब भी *भक्ति-योग* में प्रबुद्धता हेतु कृष्ण के स्पष्ट शब्दों का श्रद्धापूर्वक अध्ययन कर सकता है। अतएव, सदा की तरह, *भक्ति-योग* की शिक्षाओं को प्राप्त करने की विधि गुरु की सेवा, उनसे जिज्ञासा, एवं उनके *परम्परा* निदेशों का श्रवण है।

और तथापि भक्ति-योग का विज्ञान सीखना ज्ञान का साधारण प्रसार नहीं है, जैसा कि अध्यापक द्वारा श्यामपट पर अध्याय लिखने तथा उसके छात्रों द्वारा उन्हें अपनी पुस्तक में उतार लेने में होता है। केवल गुरु के वास्तव में शक्तिमान होने तथा छात्रों के शुद्ध ग्रहणशील होने पर ही शिक्षक उनके हृदयों में भक्ति-लता-बीज का आरोपण कर सकता है। वह बीज छात्र के हृदय में कैसे फलित होता है—यह भौतिक अनुमानों द्वारा समझने योग्य नहीं। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं,

> मानवीय बुद्धि इसे समझने में विफल होती है कि भक्त-भागवत तथा ग्रंथ-भागवत की सेवा द्वारा कोई कैसे भक्ति-मार्ग पर उत्तरोत्तर पदोन्नति प्राप्त कर सकता है। परन्तु वास्तव में ये उन देवर्षि नारद द्वारा वर्णित तथ्य हैं, जो अपने पूर्व जन्म में एक दासीपुत्र थे। (*भागवत* १.२.१८, तात्पर्य)

यद्यपि गुरु-शिष्य संबंध सूक्ष्म है, तथापि दोनों व्यक्तियों की निर्दिष्ट योग्यताओं

द्वारा इसे समझा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, यद्यपि नारद एक छोटे बालक थे, तथापि उनके घर आने वाले भक्तिवेदांत ऋषियों ने उन्हें उपयुक्त पात्र जानकर उन्हें आशीर्वाद दिया। नारद इस घटना का स्मरण करते हैं :

> यद्यपि वे स्वभाव से समदर्शी थे, उन वेदांत के पालनकर्ताओं ने मुझे अपनी अहैतुकी कृपा का आशीर्वाद दिया। जहाँ तक मेरा प्रश्न था, मैं आत्म-संयमी था तथा बालक होते हुए भी खेलकूद के प्रति अनासक्त था। इसके साथ साथ, मैं उपद्रवी नहीं था और आवश्यकता से अधिक नहीं बोलता था। (*भागवत* १.५.२४)।

नैमिषारण्य के ऋषियों नें भी वक्ता सूत गोस्वामी की इसी प्रकार प्रशंसा की थी :

> एवं चूँकि आप विनम्र हैं, अतः आपके गुरुओं ने एक भद्र शिष्य को प्रदानकारी सभी अनुग्रह आपको प्रदान किए हैं। अतः आप हमें उनसे वैज्ञानिक रूप से सीखा गया सबकुछ बता सकते हैं। (*भागवत* १.१.८)

चैतन्यलीला सदृश परम उन्नत आध्यात्मिक ज्ञान के अनुभव हेतु भक्त को अत्यंत सुयोग्य होना चाहिए। जैसा कृष्णदास कविराज कहते हैं, "जो समझ सकने में समर्थ है, श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उसे अपने दासानुदास का संग देकर कृपा दिखाई है" (*चै.च. मध्य* २.८३)। चैतन्य महाप्रभु द्वारा रामानंद राय को प्रसारित आध्यात्मिक ज्ञान भौतिक दृष्टि की परिधि से इतना पूर्ण-रूपेण परे था कि चैतन्य महाप्रभु ने कहा कि "केवल एक पागल ही इसे समझ सकता है।" चैतन्य महाप्रभु ने रामानंद के प्रति रहस्यज्ञापन किया :

> कृपया इसे निश्चित जानो कि मेरे पास तुमसे छुपाने योग्य कुछ भी नहीं है। यदि मैं किसी वस्तु को तुमसे छिपाना भी चाहूँ, तो तुम इतने उन्नत भक्त हो कि तुम मेरे समस्त रहस्यों को समझ सकते हो... तुम्हारे प्रति मेरे द्वारा रहस्योद्घाटित तथ्य भौतिकतावादी लोगों द्वारा समझे नहीं जा सकते। जब वे इसे सुनेंगे, तो वे बस मुझपर हँसेंगे। तुम स्वयं इसे समझ सकते हो तथा अपने तक ही रख सकते हो। (*चैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत*)

अपने परवर्ती वर्षों में, जब चैतन्य महाप्रभु कृष्ण के विरह में राधारानी के भाव में प्रगाढ़ता से प्रवेश की जाने वाली लीलाओं का प्रदर्शन करते थे, तो वे केवल रामानंद राय तथा स्वरूप दामोदर सदृश अत्यंत अंतरंग भक्तों के साथ ही इस रस की साझेदारी करते थे। वे महाप्रभु के भावों को समझ सकते थे। ये भाव

कभी कभी पागलपन प्रतीत होने वाले प्रदर्शनों का उत्पादन करते थे। उनको सामान्य शब्द या व्यवहार अभिव्यक्त नहीं कर सकते थे। "केवल स्वरूप दामोदर गोस्वामी के स्तर का व्यक्ति ही चैतन्य महाप्रभु द्वारा उनके कृष्ण-प्रेम के आस्वादन को पूर्णतः समझ सकता है।" (*चै.च. अन्त्य १८.२२*)

इस *सूत्र* में नारद मुनि का तात्पर्य यह है कि जबकि भक्ति को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता, उसके सार का एक महात्मा के हर्षोन्मादी लक्षणों द्वारा प्रकाश हो सकता है तथा अन्य महात्माओं द्वारा उसे सराहा जा सकता है। जब चैतन्य महाप्रभु परमाल्हाद भाव का अनुभव करते किन्तु आसपास अभक्तगण उपस्थित होते, तो वे परमाह्लादक प्रेम के बाह्य प्रकाशों को संयमित करने का प्रयास करते थे। उदाहरणस्वरूप, जब चैतन्य महाप्रभु पहली बार रामानंद राय से मिले, तो उन्होंने उनका आलिंगन किया एवं कृष्ण व गोपियों के परमाह्लादपूर्ण प्रेम से अविभूत होकर वे अचेतन प्रायः हो गए। किन्तु कुछ रूढ़िबद्ध, कर्मकाण्डी ब्राह्मण उस समय उपस्थित थे, और उन्होंने महाप्रभु तथा रामानंद के मध्य पारस्परिक क्रिया के औचित्य पर संदेह किया। कृष्णदास कविराज के अनुसार, "जब ब्राह्मणजन श्रीचैतन्य महाप्रभु तथा रामानंद राय की क्रियाओं के विषय में इस प्रकार सोच रहे थे, तो चैतन्य महाप्रभु ने ब्राह्मणों को ताका और अपने दिव्य भावों का संवरण कर लिया।" (*चै.च. मध्य ८.२८*)

हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि केवल निर्धारित संख्या के अंतरंग भक्तगण ही भक्ति-शक्ति को पा सकते हैं, और हम स्पष्टतः उन निर्वाचित भक्तों में से नहीं हैं। आचार्यगण हमें परामर्श देते हैं कि यदि हम संघर्षरत रहें, तो एक दिन हममें से प्रत्येक अपनी आदि, सुप्त कृष्णभावना को अनावृत कर सकता है। इसके अतिरिक्त, चैतन्य महाप्रभु ने अत्यंत उदारता से अंतरंग भगवत्प्रेम का वितरण करके पिछले सभी आचार्यों, भक्तों और अवतारों को मात कर दिया। अतः चैतन्य महाप्रभु के संकीर्तन आंदोलन के प्रति कोई भी ग्रहणशील व्यक्ति शीघ्रतापूर्वक उस स्तर तक पहुँच सकता है जहाँ वह *भक्ति-योग* के अनिर्वचनीय अनुभवों को समझ पाए। चैतन्य महाप्रभु की इस उदारता की सराहना में, रूप गोस्वामी ने इस प्रार्थना की रचना की :

नमो महावदान्याय कृष्णप्रेम प्रदायते।
कृष्णाय कृष्ण चैतन्य नाम्ने गौरत्विषे नमः॥

"मैं उन भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य के प्रति सादर प्रणाम करता हूँ, जो किसी भी अन्य अवतार, यहाँ तक कि स्वयं कृष्ण से भी, अधिक उदार हैं, क्योंकि वे उस निधि का मुक्त वितरण कर रहें है जो कभी किसी के द्वारा प्रदान नहीं की गई—शुद्ध कृष्ण-प्रेम।"

सूत्र ५४

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥ ५४॥

गुण—भौतिक गुण; **रहितं**—रहित; **कामान**—भौतिक कामना; **रहितं**—रहित; **प्रतिक्षण**—प्रत्येक क्षण; **वर्धमानम्**—बढ़ती हुई; **अविन्छिन्नं**—सतत; **सूक्ष्मतरम्**—सूक्ष्मतर; **अनुभव**—चेतना; **रूपम्**—रूप।

अनुवाद

शुद्ध भगवत्प्रेम सूक्ष्मतर चेतना, भौतिक गुणों तथा भौतिक कामनाओं से रहित, प्रतिक्षण वर्धमान एवं अविच्छिन्न रूप से प्रकाशित होता है।

तात्पर्य

भौतिक जगत का तथाकथित प्रेम बहुधा *भक्ति* के समान सुनाई देता व प्रतीत होता है, कम से कम उनके प्रति जो भक्तिमय सेवा में अप्रशिक्षित हों। परन्तु नारद मुनि प्रस्तुत सूत्र में यह स्पष्ट कर देते हैं कि भक्ति भौतिक-प्रेम प्रसंगों से सदैव भिन्न होती है।

गुण-रहितं शब्द का अर्थ "प्रकृति के गुणों से ऊपर" है। नारद ने भक्ति के इस गुण का संकेत सूत्र ४७ में पहले ही कर दिया है। भक्ति तमोगुण, रजोगुण या सतोगुण द्वारा अनुशासित किसी भी प्रकार के व्यवहार के समान नहीं है। हमें यह कभी नहीं सोचना चाहिए कि गोप-गोपियों के साथ कृष्ण की लीलायें भौतिक हैं। यथार्थ में, कृष्ण की लीलाएँ प्रेम की आदि गतिविधियाँ हैं, एवं इस भौतिक जगत में किसी भी प्रकार का प्रतिरूप प्रेम आदि रूप में कृष्ण से आता है। जैसा श्रील प्रभुपाद *लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण* में वर्णन करते हैं :

> यदि इस भौतिक जगत में कोई ऐश्वर्य है, तो उस ऐश्वर्य का कारण कृष्ण हैं। यदि इस भौतिक जगत में कोई यश है, तो उस यश का कारण कृष्ण हैं। यदि इस भौतिक जगत में कोई बल है, तो उस बल का कारण कृष्ण हैं। यदि इस भौतिक जगत में कोई बुद्धि और शिक्षा है, तो उस बुद्धि और शिक्षा का कारण कृष्ण हैं। अतएव कृष्ण समस्त सापेक्ष सत्यों का स्रोत हैं। (कृष्ण, पृष्ठ २७ अं.)

कामना-रहितं शब्द का अर्थ "स्वार्थी इच्छा से रहित" है। यह गुण भी पहले—सूत्र २७ में—आ चुका है, जहाँ नारद कहते हैं, "शुद्ध भगवत्प्रेम में भक्तिमय सेवा के सम्पादन में कामवासना का कोई प्रश्न नहीं, क्योंकि उसमें सारी भौतिक क्रियाओं का त्याग होता हैं।"

भौतिक तथाकथित प्रेम के आदान-प्रदान से उत्पन्न सुख के विपरीत, भक्ति का सुख *प्रतिक्षण-वर्धमानम्* (प्रतिक्षण बढ़ता हुआ) तथा *अविच्छिन्नं* (अबाधित) होता है। यह *ह्लादिनी शक्ति* नामक भगवान् की उस आध्यात्मिक शक्ति का स्वभाव है जो कृष्ण एवं उनके भक्तों के बीच प्रेममय आदान-प्रदानों का संचालन करती है। संभोग सुख में, तृप्ति शीघ्र ही सुख के चढ़ते अनुभवों की समाप्ति कर देती है, परन्तु कृष्ण एवं उनके नित्य पार्षदों के प्रेमपूर्ण आदान-प्रदानों में सदा-वर्धमान आनंद देने वाली नित्य स्पर्धा रहती है। कृष्ण अपनी गोपियों के सौन्दर्य को देखकर अत्यंत सुखी होते हैं, और जब गोपियाँ देखती हैं कि कृष्ण उनसे प्रसन्न हैं, तो वे कई गुना अधिक प्रसन्न हो जाती हैं, एवं इससे उनके सौन्दर्य का वर्धन होता है। फिर, यह कृष्ण के सौन्दर्य तथा प्रसन्नता का वर्धन करता है। और इस प्रकार भक्त और भगवान् अविच्छिन्न रूप से प्रेमपूर्ण आदान-प्रदानों का भोग करते हैं।

मर्त्य प्रेम-प्रसंगों के विपरीत, *भक्ति* में प्रेम साझेदारों में से एक की मृत्यु अथवा झगड़ा होने से टूटता नहीं। चैतन्य महाप्रभु संकीर्तन के आनंद की व्याख्या *आनंदाम्बुधि-वर्धनम्,* "दिव्य आनंद का बढ़ता सागर" कहकर करते हैं। चूँकि भगवान् स्वयं सदा वर्धमान तथा नित्य नवीन रहते हैं, अतएव भक्त कभी ऊबता नहीं या अश्रद्धालु नहीं होता, और न ही कभी धोखा खाता है।

भक्ति *सूक्ष्म-तरं,* अर्थात सूक्ष्म वस्तु से भी सूक्ष्म है। जैसा *भगवद्गीता* में वर्णित है (३.४२) "कार्यकारी इंद्रियाँ जड़ पदार्थ से उत्तम हैं; मन इंद्रियों से ऊपर है; बुद्धि मन से भी ऊपर है; एवं वह (आत्मा) बुद्धि से भी ऊपर है।" अतः शुद्ध आत्माओं तथा उनके प्रेमास्पद भगवान् के मध्य प्रेमपूर्ण भाव के सूक्ष्म आदान-प्रदान भौतिक प्रेम से, जो कि वास्तव में कामवासना के अतिरिक्त कुछ नहीं, सर्वथा भिन्न है।

सूत्र ५५

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव चिन्तयति॥ ५५॥

तत्—उसे; **प्राप्य**—प्राप्त करके; **तत्**—उसे; **एव**—एकमात्र; **अवलोकयति**—देखता है;

तत्—उसे; **एव**—एकमात्र; **शृणोति**—सुनता है; **तत्**—उसे; **एव**—एकमात्र; **चिन्तयति**—चिंतन करता है।

अनुवाद

भगवत्प्रेम की प्राप्ति के पश्चात्, व्यक्ति एकमात्र भगवान् को ही देखता है, एकमात्र उनका ही श्रवण करता है, एवं एकमात्र उनका ही चिंतन करता है।

तात्पर्य

भगवान् कृष्ण इस सिद्धि की अवस्था का वर्णन *भगवद्गीता* (६.३०) में करते हैं :

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

"मुझको सर्वत्र देखने तथा सबकुछ मुझमें देखने वाले के प्रति, मैं कभी अदृश्य नहीं होता, और न ही वह मेरे प्रति अदृश्य होता है।" श्रील प्रभुपाद लिखते हैं,

> ऐसा व्यक्ति भौतिक प्रकृति के सब पृथक् प्रकाशों को देखता हुआ प्रतीत हो सकता है, परन्तु प्रत्येक संदर्भ में वह कृष्ण के प्रति यह जानते हुए सचेत रहता है कि सबकुछ कृष्ण की शक्ति का प्रकाश है। (*भ.गी.* ६.३०, तात्पर्य)

यह *समाधि* है, और कोई व्यक्ति उसे *अष्टांग योग* पद्धति से प्राप्त करे या *भक्ति-योग* से, वह समान है। भक्ति-योग में, वह भक्तिमयी सेवा में सर्वदा स्थिर रहता है, और कुछ भी देखने से कृष्ण के ही प्रति अपने ध्यान का संवर्धन करता है।

शुद्ध कृष्णभावनामृत को समझने में सहायता हेतु, आचार्यगण हमें साधारण प्रसंगों में भी समाधि-सदृश अवस्थाओं का उदाहरण देते हैं। जब माँ अपने नन्हें बालक के जूते देखती है, तो वह उनको बस तटस्थ वस्तुओं के रूप में नहीं देखती; वह अपने बालक के प्रति संरक्षण एवं प्रेम का अनुभव करती है। इसी प्रकार, जब कोई प्रेमी अपने प्रेमास्पद की कंघी उठाता है (विशेषकर जब वह अपने प्रेमास्पद से विरह में हो) तो उसे प्रेम के प्रगाढ़ भावों का अनुभव हो सकता है। परम पुरुषोत्तम भगवान्, श्री कृष्ण, के संदर्भ में, *सबकुछ* उनकी शक्ति है। अतः भक्त जहाँ कहीं भी जाए अथवा ब्रह्माण्ड भर में जो कुछ भी देखे, उसे भगवान् का ही स्मरण होता है। इसके अतिरिक्त, यह अभिज्ञान केवल एक बुद्धिगत आदत नहीं

अपितु प्रेम की पूर्ण अभिभूतकारी अवस्था है।

अपनी *ब्रह्म-संहिता* (५.३८) में, ब्रह्मा जी कृष्ण को सदैव तथा सर्वत्र देखने की भक्तिमय योग्यता का वर्णन करते हैं :

प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्तिविलोचनेन
संतः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।
यं श्यामसुँदरमचिंन्त्यगुणस्वरूपं
गोविन्दम् आदि-पुरुषं तमहं भजामि।।

"जो स्वयं श्यामसुंदर श्रीकृष्ण हैं, जिनके अनेकानेक अचिन्त्य गुण हैं, तथा शुद्ध भक्त जिनका प्रेम के अंजन से रंजित भक्ति के नेत्रों द्वारा अपने अन्तर्हृदय में दर्शन करते रहते हैं, उन आदि पुरुष भगवान् गोविंद का मैं भजन करता हूँ।"

अपने तात्पर्य में, श्रील भक्तिसिद्धांत सरस्वती लिखते हैं,

> जीव के चिन्मय-शुद्ध विग्रह के नेत्र ही भक्ति के नेत्र हैं। भक्ति के अनुशीलन से शुद्धि के अनुपात में कृष्ण-विग्रह उन नेत्रों को दिखता है।

प्रेम के नेत्रों से कृष्ण का दर्शन करने से हमें क्या चीज रोकती है? हमारी आँखों में भौतिक आसक्तियों से बना "मोतियाबिंद"। जैसा श्रीकृष्ण कहते हैं,

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।।

"मैं मूर्खों तथा अबुद्धिमानों के प्रति कभी प्रकाशित नहीं होता। उनके लिए मैं अपनी अंतरंगा शक्ति द्वारा आवृत रहता हूँ, एवं इसलिए वे नहीं जानते कि मैं अजन्मा तथा अच्युत हूँ।" (*भ.गी.* ७.२५)। भगवान् कृष्ण हमसे छिपते नहीं; वे तो हमें अपने साथ रखना चाहते हैं। वे सूर्य के समान हैं जो सदैव आकाश में ज्वालायमान है। कोई भी बादल सूर्य को ढकने में पर्याप्त बड़ा नहीं, किन्तु पृथ्वी से देखने में एक छोटा बादल भी सूर्य के प्रति हमारी दृष्टि को ढक सकता है। इसी प्रकार से, हमारी इच्छा तथा द्वेष के बादल हमें हमारे प्रेमास्पद भगवान् को देखने से रोकते हैं एवं उनकी सेवा से आने वाले सुख तथा शांति का भोग करने में बाधा पहुँचाते हैं। अतएव कृष्णभावनामृत का अनुभव करने हेतु, हमें अपनी उन उपाधियों से ऊपर उठना होगा जो हमें स्वयं को शरीर मानने तथा हमारी कपोलकल्पनाओं से हमें एकात्म्य होने को प्रेरित करती हैं।

नारद जी भक्ति की परम अवस्था की व्याख्या कर रहे हैं। यह अवस्था दुर्लभ है, किन्तु *भक्ति-योग* सिखाने वाले वैष्णवों की कृपा से इसे प्राप्त किया जा सकता है। तार्किक भाव से वैदिक शास्त्रों को पढ़ने वाला व्यक्ति कृष्ण को कभी नहीं जान

पाएगा। किन्तु हम उनके प्रतिनिधियों द्वारा मार्गदर्शित *भक्ति-योग* में कार्य करें तो उनकी कृपा प्राप्त कर सकते हैं। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं,

> जब कोई व्यक्ति *हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे / हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे* महामंत्र से प्रारंभ करके कृष्णभावनामृत में पूर्णतः संयुक्त हो जाता है, केवल तभी वह परम पुरुषोत्तम भगवान् को समझ सकता है। (*भ. गी.* ७.२४, तात्पर्य)

सूत्र ५६

गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा।। ५६ ।।

गौणी—भौतिक गुणों से मिश्रित; **त्रिधा**—त्रिविध; **गुण**—भौतिक गुणों के; **भेदात्**—भेद से; **आर्त**—दुखी के, **आदि**—आदि; **भेदात्**—भेद द्वारा; **वा**—अथवा।

अनुवाद

तीन भौतिक गुणों में से किसी एक की प्रधानता के, अथवा दुख आदि भौतिक प्रेरणा के द्वारा भक्ति में आने के अनुसार, गौणी भक्ति तीन प्रकार की होती है।

तात्पर्य

यह प्रतीत हो सकता है कि हम ऊँचाई से अचानक नीचे गिरा दिए गए हैं। नारद जी कृष्णभावनामृत के सर्वोच्च स्तर की व्याख्या करते रहे हैं, और अब वे गौणी भक्ति की चर्चा कर रहे हैं। किन्तु नारद के निर्देश का पाठ्यक्रम सुनियोजित, व्यावहारिक तथा यथार्थमय है। वे चाहते हैं कि हम उच्चतर अवस्थाओं की प्राप्ति करें, किन्तु जैसा भगवान् कृष्ण कहते हैं, *वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः* कृष्ण को सर्वत्र देख पाने वाला महात्मा अत्यंत दुर्लभ है" (*भ.गी.* ७.१९) अतः नारद जी अपेक्षाकारी भक्तों के मनों तथा आदतों में अनर्थों के प्रति हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं जिससे हम उच्चतर अवस्थाओं की दिशा में कार्य कर सकें तथा कृष्ण के शुद्ध प्रेम को एक अप्राप्य स्वप्न न समझें। दूसरी ओर, यदि कोई इसे सरल समझ कर उच्चतर अवस्थाओं में छलांग लगाने का प्रयास करे, तो वह एक अन्य त्रुटि है (*प्राकृत-सहजियों* द्वारा घटित), जो स्वयं तथा समाज के प्रति

महान् उत्पात मचा देती है।"

भक्ति की उपक्रमात्मक अवस्थाएँ *गौणी भक्ति* कहलाती हैं, तथा वे अभी भी प्रकृति के गुणों से ग्रस्त व्यक्तियों हेतु आवश्यक हैं। भगवान् कृष्ण ऐसी गौणी भक्ति की प्रेरणाओं की *भगवद्गीता* (७.१६) में व्याख्या करते हैं :

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

"हे भरतश्रेष्ठ, चार प्रकार के पुण्यवान व्यक्ति मेरे प्रति भक्तिमय सेवा का अनुशीलन आरंभ करते हैं : दुखी, धन का इच्छुक, जिज्ञासु और वह जो परम ज्ञान की खोज कर रहा हो।"

भगवद्गीता का यह श्लोक ठीक उस समय आता है जब श्रीकृष्ण भगवान् को कभी शरणागत न होने वाले चार प्रकार के व्यक्तियों की व्याख्या कर चुके होते हैं। भौतिक इच्छाओं की पूर्ति की कामना में लगे रहकर भी परमेश्वर को समर्पित रहने वालों को *सुकृतिनः*, या पुण्यात्मा कहा जाता है। उनकी उत्तम योग्यता यह है कि वे भगवदुन्मुख हो गए हैं। *श्रीमद्भागवतम्* (२.३.१०) में, शुकदेव गोस्वामी सबको, भले ही उसकी कैसी भी वर्तमान स्थिति क्यों न हो, *कृष्ण-भक्ति* ग्रहण करने को उत्साहित करते हैं:

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

"जिस व्यक्ति की बुद्धि उदार हो, भले ही वह समस्त भौतिक कामनाओं से पूर्ण हो, या किसी भी भौतिक इच्छा से रहित हो, अथवा मोक्ष की कामना रखता हो, उसे अवश्य ही परमपूर्ण भगवद्-व्यक्तित्व की भक्ति करनी चाहिए।"

विशुद्ध भक्ति के स्तर पर अभी तक अनवस्थित सुकृतिवान व्यक्ति शुद्ध भक्तों के संग से शुद्ध हो सकते हैं। हाँ, यदि कोई इस निम्न अवस्था में ही अटका रहे, तो वह असंतुष्ट रहेगा। *भुक्ति* या *मुक्ति* की कामना ही भक्त को प्रगति करने से रोकती है। *भक्तिरसामृतसिन्धु* (१.२.२२) में, श्रील रूप गोस्वामी भुक्ति और मुक्ति को ऐसी दो पिशाचिनियों के समान बताकर वर्णन करते हैं जो बद्ध जीवों को आतंकित करती हैं तथा उन्हें भक्ति के आनंद का अनुभव करने से रोकती हैं। यथार्थ भक्तिमय सेवा *अन्याभिलाषिता-शून्य* है, अर्थात भौतिक लाभ या तर्क की अभिलाषा से रहित अनुकूल भाव से भगवान् की सेवा, होती है (देखें *भगवद्गीता* ७.१६, तात्पर्य)।

स्वार्थी कामनाओं की तुष्टि हेतु कृष्ण की सेवा करने वाले भक्तों को *सकाम-भक्त* कहते हैं। ऐसी कामनाओं से रहित, शुद्धता से सेवा करने वालों को *अकाम-*

भक्त कहते हैं। जब कोई सकाम भक्त भक्तिमय सेवा का अनुशीलन करता रहे, तो भगवान् उसे सकाम से अकाम भक्त बना देते हैं। भक्त यह अनुभव करना प्रारंभ करता है कि कृष्ण की सेवा का स्वाद ही वास्तविक लक्ष्य तथा सुख है, और अन्य वस्तुओं के प्रति उसकी इच्छाएँ कम होने लगती हैं। यह शुभ हृदय-परिवर्तन भक्ति की पद्धति के माध्यम से कार्यरत श्रीकृष्ण की शक्ति द्वारा होता है। जैसा कि *श्रीमद्भागवतम्* (५.१९.२७) में कथित है,

> परम पुरुषोत्तम भगवान् ऐसे अभिप्रायों से उनके पास पहुँचे भक्त की भौतिक कामनाओं को पूर्ण करते हैं, किन्तु वे भक्त को ऐसे वरदान प्रदान नहीं करते जिससे वह पुनः वरदानों की मांग करने को प्रेरित हो। फिर भी, भगवान् अपने चरणों में भक्त को सहर्ष ही आश्रय देते हैं, भले ही ऐसा व्यक्ति उसकी अपेक्षा नहीं करता, और वह आश्रय उसकी समस्त कामनाओं को तुष्ट कर देता है। वह भगवान् की विशेष कृपा होती है।

भगवान् कृष्ण व्यक्ति के क्षुद्र वस्तुओं के प्रति आकर्षण को अपनी सेवा के अमृत से बदल देते हैं। कृपामय सर्वज्ञ भगवान् के सिवा अन्य कौन यह कर सकता है? अतः गौणी भक्ति की अवस्था स्थायी निवास हेतु नहीं है; अपितु, यह आगे बढ़ने की एक शुभ अवस्था है। चूँकि भगवान् के पादपद्मों की दिशा मे बद्ध जीव द्वारा की गई कोई भी प्रगति उसके लिए अनुकूल होती है, अतः गौणी भक्तिमय सेवा अमहत्त्वपूर्ण नहीं है, जिस प्रकार चलने के प्रयास में बालक द्वारा लिए गए प्रारंभिक पग उसके विकास में निर्णायक होते हैं।

सूत्र ५७

उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वो श्रेयाय भवति॥५७॥

उत्तरस्मात् उत्तरस्मात्—उत्तर-उत्तर क्रम से; **पूर्व पूर्वः**—पूर्व पूर्व क्रम से; **श्रेयाय भवति**—उत्तम माननी चाहिए।

अनुवाद

प्रत्येक पूर्व अवस्था आगामी अवस्था से उत्तम माननी चाहिए।

तात्पर्य

सत्वगुण में भगवान् की पूजा रजोगुण में पूजा से उत्तम है, तथा रजोगुण में पूजा तमोगुण में पूजा से उत्तम हैं। अपनी माँ को अपनी शिक्षाओं में, भगवान् कपिलदेव त्रिगुणों के प्रभाव में सम्पादित भक्तिमय सेवा की व्याख्या करते हैं :

> हे भद्र नारी, साधक के विभिन्न गुणों के संदर्भ में भक्तिमय सेवा के विभिन्न मार्ग हैं। द्वेषी, ढोंगी, उग्र, क्रोधी तथा पृथक् रहने में संतुष्ट रहने वाले व्यक्ति द्वारा सम्पादित भक्तिमय सेवा तमोगुणी मानी जाती है। अलगाववादी व्यक्ति द्वारा, भौतिक सुख, यश तथा ऐश्वर्य की कामना से मन्दिर में की गई विग्रह-पूजा रजोगुणी भक्ति होती है। जब कोई भक्त परम पुरुषोत्तम भगवान् का पूजन करे तथा सकाम कर्म के मतवालेपन से मुक्त होने हेतु अपनी क्रियाओं के फल उनको अर्पण करे, तो उसकी भक्ति सतोगुण में होती है। (*भागवतम्* ३.२९.७-१०)

इसके तात्पर्य में, श्रील प्रभुपाद मुख्य शब्द *भिन्न-दृक्*, अर्थात् "अलगाववादी दृष्टि रखने वाला" की व्याख्या करते हैं :

> "अलगाववादी" शब्द को सावधानीपूर्वक समझना चाहिए... अलगाववादी वह है जो अपनी रुचि को भगवद्रुचि से अलग देखता हो। मिश्र भक्त अथवा रजोगुणी और तमोगुणी भक्त, सोचते हैं कि भगवान् की रुचि भक्त के आदेशों के पालन में है; ऐसे भक्तों की रुचि भगवान् से उनकी इंद्रियतृप्ति हेतु अधिक से अधिक लेने में होती है। यह अलगाववादी मानसिकता है।

तथापि, अलगाववादी मानसिकता के बावजूद, ऐसे मिश्र भक्त अनुग्रहीत हैं, क्योंकि यदि वे *शुद्ध-सात्त्विक* शिक्षकों के मार्गदर्शन में भक्तिमय सेवा का सम्पादन प्रारंभ करें, तो वे क्रमशः शुद्ध *भक्ति* तक उठ सकते हैं। पूर्व उद्धृत श्लोक के कथनानुसार (*भागवत* २.३.१०), सभी श्रेणियों के उपासकों को, अपनी भौतिक कामनाओं के साथ भी, परमपिता की ओर मुड़ने को उत्साहित किया जाता है। अपने तात्पर्य में श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "जैसे अमिश्रित सूर्य-किरण अत्यंत प्रभावपूर्ण होती है और इसलिए तीव्र कहलाती है, उसी प्रकार श्रवण, कीर्तनादि का अमिश्रित भक्ति-योग (*तीव्रेण भक्ति-योगेन*) सबके द्वारा, आंतरिक कामना से अनपेक्ष, पालन किया जा सकता है।

सूत्र ५८

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ॥ ५८ ॥

अन्यस्मात्—किसी अन्य वस्तु से; **सौलभ्यं**—प्राप्ति की सुलभता; **भक्तौ**—भक्तिमय सेवा में।

अनुवाद

किसी अन्य पद्धति की अपेक्षा भक्तिमय सेवा द्वारा सफलता पाना अधिक सुलभ है।

तात्पर्य

नारद हमें विश्वास दिलाते हैं कि हर व्यक्ति भक्तियोग के अभ्यास द्वारा शीघ्र प्रगति कर सकता है क्योंकि यह सरलतम मार्ग है। यह विशेषरूप से वर्तमान समय, कलियुग में, रहनेवाले हम लोगों हेतु एक परम महत्त्वपूर्ण योग्यता है। जैसा कि *श्रीमद्भागवतम्* (१.१.१०) में कथित है :

प्रायेणाल्पायुषः सभ्य कलावस्मिन् युगे जनाः।
मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः॥

"हे विद्वान, कलि के इस लौह युग में लोगों की उम्र छोटी है। वे झगड़ालु, आलसी, विभ्रमित, अभागे तथा मुख्यतः सदैव आक्रांत रहते हैं।"

इस युग के लोगों के समस्त लक्षण आध्यात्मिक जीवन के लिए अयोग्यताएँ हैं। पूर्व युगों में, मानव स्थिति आध्यात्मिक उन्नति हेतु अधिक अनुकूल थी। सत्य-युग में प्राय सब लोग सतोगुणी थे, एवं समाज शांतिपूर्ण तथा धार्मिक था। उस समय धर्म का संस्तुत रूप ध्यान था। कहा जाता है कि वाल्मीकि ऋषि ने रामायण लिखने से पूर्व साठ सहस्र वर्षों तक ध्यान किया, एवं कर्दम मुनि ने दस सहस्र वर्षों तक ध्यान किया। जैसे जैसे युग त्रेता से द्वापर में पहुँचा, मानव समाज का अधिकाधिक पतन होता गया। पाँच सहस्र वर्षों पूर्व, जब भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को अष्टांग-योग की संस्तुति की, तो अर्जुन ने उसे यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि वह उसके लिए अव्यावहारिक तथा असंभव था। हमें आजकल अपने द्वारा कर सकने योग्य पद्धति संबंधी भव्य धारणाओं को बनाए नहीं रखना चाहिए, अपितु अध्यात्म की अपनी लुप्तप्राय स्थिति के तथ्यों का सामना करना चाहिए। "यह सरलतम मार्ग है," नारद कह रहे हैं, और हमें उनके प्रस्ताव को झपट लेना चाहिए जैसे कोई डूबता व्यक्ति बेड़े को झपट लेता है।

पूर्व युगों में भी, जब कठिनतर पद्धतियाँ संस्तुत थीं, लक्ष्य सदैव भगवद्-भक्ति ही था। इस युग में भक्ति का सबसे ग्राह्य रूप संकीर्तन, या भगवान् के पवित्र नामों का सामुदायिक कीर्तन है। यह युग-धर्म के रूप में संस्तुत है। जैसा कि *बृहन्नारदीय पुराण* में वर्णित है, "कलियुग में हरिनाम के उच्चारण के अतिरिक्त भगवद्-ज्ञान का कोई अन्य प्रभावशाली माध्यम संभव नहीं है।" यही वस्तु *श्रीमद्भागवतम्* में भी संस्तुत है, जहाँ नवयोगेन्द्र घोषणा करते हैं कि कलियुग में बुद्धिमान व्यक्ति संकीर्तन पद्धति ग्रहण करेंगे। और शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित को बताते हैं कि पवित्र भगवन्नाम कीर्तन इस युग का बचावकारी अनुग्रह है :

कलेर्दोषनिधे राजन् अस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत्॥

"मेरे प्रिय राजन्, यद्यपि कलियुग दोषों से पूर्ण हैं, तथापि इस युग में एक महान गुण है : केवलमात्र *हरेकृष्ण महामंत्र* के कीर्तन द्वारा, व्यक्ति भौतिक बंधन से मुक्त हो सकता है तथा दिव्य धाम में पदोन्नत हो सकता है। (*भागवत्* १२.३.५१)

संस्तुत युग-धर्म के अज्ञान तथा प्रतिरोध में, अनधिकृत शिक्षक योग एवं ध्यान सिखाने का व्यवसाय करते हैं। किन्तु चूँकि प्रायः कोई भी व्यक्ति ध्यान की कठिन तपस्याओं का अभ्यास करने योग्य नहीं, इसलिए सरल रूपान्तर ही सिखाये जाते हैं, जो अधिकतर धोखे का एक रूप होते हैं। यदि कोई व्यक्ति गम्भीरतापूर्वक *कर्म-योग, ज्ञान-योग,* या *अष्टांग-योग* का मार्ग अपनाये भी, तो उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। उदाहरणस्वरूप, *ज्ञानी* ज्ञान के लिए ही ज्ञान का संग्रह करने में अधिक आसक्त होकर परमपूर्ण सत्य तत्त्व में समा जाने का प्रयास कर सकता है। *कर्म-योगी,* बहुधा अपनी क्रियाओं को भगवान् के अर्पण करना भूल जाता है एवं इसके स्थान पर अपने कर्म के फलों या यश के प्रति आसक्त हो जाता है। *अष्टांग-योगी,* यदि वह इस पद्धति में किंचित प्रगति कर भी पाए, तो अपने पास आनेवाली सिद्धियों द्वारा वह पथभ्रष्ट हो सकता है। किन्तु *भक्ति,* अपने स्वभाव से ही, व्यक्ति की इंद्रियों, क्रियाओं, तथा कामनाओं की शुद्धि करती है। इसके अतिरिक्त, व्यक्ति को *कर्म* से *ज्ञान, ज्ञान* से *भक्ति* की योग-सीढ़ी के प्रत्येक पग में कष्टपूर्ण मन्दगति गमन करने की आवश्यकता नहीं। किसी भी क्षण में, जब भी व्यक्ति समर्पण करने का निश्चय करे, और जहाँ भी व्यक्ति शुद्ध भक्तों का संग पाए, वह भक्ति-योग की 'एक्सप्रेस लिफ्ट' को ले सकता है। जैसा भगवान् कृष्ण संस्तुति करते हैं,

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

"भौतिक प्रकृति के तीन गुणों से युक्त, यह मेरी दैवी शक्ति, पार करने में कठिन है। किन्तु मेरे प्रति शरणागत जीव इसे सरलता से पार कर सकते हैं।" (*भ.गी.* ७.१४)

सूत्र ५९

प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयं प्रमाणत्वात्॥ ५९॥

प्रमाण—ताथ्यिक ज्ञान का माध्यम; **अन्तरस्य**—अन्य; **अनपेक्षत्वात्**—निर्भर न होने के कारण; **स्वयं**—स्वयं; **प्रमाणत्वात्**—प्रमाण होने के कारण।

अनुवाद

समस्त आध्यात्मिक पद्धतियों में भक्तिमय सेवा के सरलतम होने का कारण यह है कि वह स्वयं प्रमाणरूप होने के नाते अपनी प्रामाणिकता हेतु किसी अन्य प्रमाण पर निर्भर नहीं करती।

तात्पर्य

वैष्णव दार्शनिक सभी विभिन्न प्रकार के प्रमाणों को तीन प्रमाणों में ही घनीभूत कर देते हैं : *प्रत्यक्ष, अनुमान,* तथा *शब्द*। *प्रत्यक्ष* का अर्थ है इंद्रियों द्वारा सीधा प्रमाण। किन्तु चूँकि इंद्रियाँ अपूर्ण हैं, अतः *प्रत्यक्ष* को बहुधा उच्चतर ज्ञान द्वारा संशोधित करना पड़ता है। *अनुमान* का संदर्भ निगमनात्मक तथा आगमनात्मक तर्क शास्त्र से है जो इसके परिसर और कारणों की मान्यता पर निर्भर करता है। अतः यह निश्चित रूप से किसी वस्तु का प्रमाण नहीं दे सकता। *शब्द* का अर्थ है अधिकृत सूत्रों से प्राप्त ज्ञान। वैदिक ज्ञान *शब्द-प्रमाण* है। यह विशेष रूप से दिव्य विषयवस्तु से संबंधित है, जो अनुभवगम्य एवं तार्किक पद्धतियों से ज्ञात नहीं हो सकता। साधारण प्रसंगों में भी, हमें कई वस्तुओं को प्रामाणिकता के बल पर स्वीकार करना पड़ता है। हमें अपने पिता का परिचय माँ रूपी एकमात्र अकाट्य प्रमाण से ही मिल सकता है। माँ के अतिरिक्त, यह निश्चिंतता से जानने का कोई रास्ता नहीं कि हमारा पिता कौन है। जब सूचना का स्रोत पूर्ण होता है, जैसा कि वैदिक ज्ञान में, तो शब्द-प्रमाण, या शब्द-ब्रह्म, चरम प्रमाण बन जाता है। जैसा श्रील प्रभुपाद कहते हैं, "जहाँ तक आत्मा के अस्तित्व का संबंध है, कोई भी व्यक्ति *श्रुति प्रमाण* अथवा वैदिक ज्ञान से परे प्रायोगिक रूप से उसका अस्तित्व स्थापित नहीं कर सकता।" (*भ. गी.* २.२५, तात्पर्य)

शास्त्र एवं गुरु के प्रमाण के अतिरिक्त, नारद ने सिखाया है कि *भक्ति* का सत्य अपने निजी जीवन में उसके फलों के प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा प्रमाणित हो जाता है। ३१ और ३२ सूत्रों में, नारद उपमा देते हैं कि किसी व्यक्ति की भूख भोजन को देखनेमात्र से दूर नहीं हो सकती। इतना सुनना ही पर्याप्त नहीं है कि कोई विशिष्ट पकवान बहुत मीठा और स्वादिष्ट है। यदि आप पकवान के सभी संघटकों को जानते हों, तो भी वह ज्ञान आपकी भूख शांत नहीं करेगा। इसी प्रकार, भगवान् का किताबी ज्ञान सुख नहीं देता, न तो भगवान् को और न ही व्यक्तिगत आत्मा को। *भक्ति* का प्रत्यक्ष अनुभव आवश्यक है। श्रील प्रभुपाद कहा करते थे कि जब तुम कृष्णभावनाभावित हो जाओगे तो किसी को तुम्हें प्रमाणपत्र या डिप्लोमा देते हुए यह कहने की आवश्यकता नहीं होगी, "तुम अब कृष्णभावनाभावित हो।" तुम इसे स्वयं जान जाओगे।

व्यक्ति के हृदय को शुद्ध करने की भक्ति-शक्ति भौतिक कामनाओं के नाश से प्रमाणित होती है। वर्षों के पापपूर्ण जीवन के पश्चात् कृष्णभावनामृत में आए व्यक्ति इस प्रमाण को भलीभाँति जानते हैं। उनके द्वारा मांस-भक्षण, मद्यपान एवं अवैध स्त्री-संग का त्याग निग्रह की क्रिया नहीं, अपितु उच्चतर सुख के आस्वादन पर आधारित होता है। और इसलिए भक्ति स्वयं अपना प्रमाण है।

अभक्तजन प्रयोगाश्रित प्रमाण की मांग कर सकते हैं : "हमें अपने कृष्ण दिखाओ। प्रमाणित करो कि वे भगवान् हैं। हम उन्हें गोवर्धन पर्वत उठाते हुए देखना चाहते हैं।" किन्तु प्रमाण हेतु उनकी मांग उस प्रकार से पूरी नहीं की जा सकती। भगवान् कृष्ण केवल अपने भक्तों के प्रति स्वयं को आदि रूप में प्रकाशित करते हैं :

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

"मैं मूर्खों तथा अबुद्धिमानों के प्रति कभी प्रकाशित नहीं होता। उनके लिए मैं अपनी अंतरंगा शक्ति द्वारा आवृत रहता हूँ, एवं इसलिए वे नहीं जानते कि मैं अजन्मा तथा अच्युत हूँ।" (*भ.गी.* ७.२५)

नास्तिकों के प्रति, भगवान् अपने अस्तित्व का प्रमाण तब देते हैं जब वे मृत्यु के रूप में प्रकट होते हैं तथा सबकुछ हर ले जाते हैं। परन्तु भगवान् अपनी अंतरंगा शक्ति का प्रकाश श्रद्धाहीनों के प्रति नहीं करते। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "यदि कोई निर्विशेष ब्रह्म अथवा स्थानीय परमात्मा के ज्ञान से सिद्ध हो चुका हो, तो भी वह कृष्णभावनामृत के बिना परम पुरुषोत्तम भगवान्, श्रीकृष्ण, को नहीं समझ सकता।" (*भ.गी.* ७.२६, तात्पर्य)

सूत्र ६०

शान्तिरूपात्परमानन्दरूपाच्च ॥ ६० ॥

शांति—शांति का; **रूपात्**—रूप होने के कारण; **परम**—सर्वोच्च; **आनंद**—आनंद का; **रूपात्**—रूप होने के कारण; **च**—और।

अनुवाद

इसके अतिरिक्त, भक्ति शांति एवं परमानन्द का मूर्तिमान स्वरूप है।

तात्पर्य

यह सूत्र अतिरिक्त प्रमाण है कि भक्ति आध्यात्मिक प्रगति की सर्वोत्तम पद्धति है। भगवान् कृष्ण के व्यक्तिगत रूप, नाम, एवं विभिन्न क्रियाएँ उनके भक्तों को आकर्षित करती हैं, जो शांति और परमानंद से परिपूर्ण प्रेम का अनुभव करते हैं। वास्तव में, भक्ति का स्वभाव ही शांति एवं आनंद है।

भगवद्गीता में, भगवान् कृष्ण हमें बताते हैं कि शांति के योग्य कौन है :

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

"मुझे सब यज्ञों और तपों का परम भोक्ता, सब लोकों तथा देवों का महेश्वर, एवं सब जीवों का उपकारक एवं शुभाकांक्षी जानकर, मेरी पूर्ण चेतना में रहने वाला व्यक्ति भौतिक क्लेशों के बंधन से शांति पाता है।" (*भ.गी.* ५.२९)

श्रील प्रभुपाद इस श्लोक को "शांति सूत्र" कहते हैं, अर्थात व्यष्टिगत तथा समष्टिगत शांति की प्राप्ति की निश्चित विधि। जब अस्थायी रूप से किसी संपत्ति का नियंत्रण करने वाले लोग भगवान् के सर्वस्वामित्व की उपेक्षा करते हैं तथा दावा करते हैं कि वे स्वयं जगत के स्वामी तथा भोक्ता हैं, और जब नेतृत्व के पदों के लोग अपने निर्भरों के सर्वोत्तम मित्र होने का दावा करते हैं किन्तु उन्हें दिव्य ज्ञान पाने का अवसर देने से चूक जाते हैं, तो परिणाम शांति नहीं, अपितु विद्रोह, अव्यवस्थता, और युद्ध होता है। शांति तब आती है जब हम भगवान् कृष्ण को परम शासक, स्वामी तथा मित्र के रूप में पहचानते हैं)

सुख के संदर्भ में, श्रील रूप गोस्वामी तीन प्रकारों को परिभाषित करते हैं : "(१) भौतिक भोग से मिलने वाला सुख, (२) परब्रह्म से ऐक्य अनुभव करने से

मिलने वाला सुख, तथा (३) कृष्णभावनामृत से मिलने वाला सुख" (*भक्तिरसामृतसिन्धु*)। रूप गोस्वामी का उपसंहार है कि शुद्ध भक्ति से मिलने वाला सुख सर्वोच्च है क्योंकि यह नित्य है, जबकि भौतिक भोग में एवं ब्रह्मैक्य में भी रुक़ावट पड़ना अनिवार्य है। भक्तिमय सेवा में सुख सबके लिए खुला है, किन्तु स्वयं की महत्ता बढ़ाने का प्रयास करने वाले व्यक्ति कृष्णभावनामृत के मीठे स्वाद को नहीं जान सकते। सुख स्वामी बनने के प्रयास से नहीं आता, अपितु परमेश्वर का दासानुदास बनने से आता है। अपनी पीड़ा से छुटकारा पाने हेतु भगवान् से प्रार्थना करते समय, गजेन्द्र ने भक्तों के सुख की प्रशंसा की थी :

विशुद्ध भक्त, जो भगवान् की सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते, पूर्ण शराणागति से उनकी पूजा करते हैं तथा सदैव उनकी क्रियाओं के संबंध में श्रवण-कीर्तन करते हैं, जो परम अद्‌भुत तथा शुभ हैं। अतएव वे सदैव दिव्य आनंद के सागर में डूबे रहते हैं। ऐसे भक्त भगवान् से कभी कोई वरदान नहीं माँगते। (भागवत-८.३.२०)

सूत्र ६१

लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात्॥ ६१॥

लोक—संसार का; **हानौ**—हानि से संवधित; **चिंता**—चिंता; **न कार्या**—करनी नहीं चाहिए; **निवेदिता**—समर्पण करने के कारण; **आत्म**—अपना स्वयं; **लोक**—भौतिक प्रसंग; **वेदत्वात्**—और वैदिक कर्त्तव्य।

अनुवाद

अपने सब भौतिक और वैदिक कर्त्तव्यों को भगवान् को समर्पण करने के पश्चात् व्यक्ति को सांसारिक हानि के संबंध में चिंता नहीं करनी चाहिए।

तात्पर्य

इस सूत्र के कई अर्थ हैं। सर्वप्रथम, भक्त को अपनी सांसारिक स्थिति के संबंध में चिंता नहीं करनी चाहिए। भगवान् कृष्ण के शरणागत होकर, वे भगवद्-धाम लौटते हुए, सबसे शुभ मार्ग पर है। यदि उसे आर्थिक हानि या बुरे स्वास्थ्य की पीड़ा भी हो, तो वह समझता है कि भगवान् कृष्ण उसे उसकी पूर्व पापपूर्ण क्रियाओं

मिलने वाला सुख, तथा (३) कृष्णभावनामृत से मिलने वाला सुख" (*भक्तिरसामृतसिन्धु*)। रूप गोस्वामी का उपसंहार है कि शुद्ध भक्ति से मिलने वाला सुख सर्वोच्च है क्योंकि यह नित्य है, जबकि भौतिक भोग में एवं ब्रह्मैक्य में भी रुक़ावट पड़ना अनिवार्य है। भक्तिमय सेवा में सुख सबके लिए खुला है, किन्तु स्वयं की महत्ता बढ़ाने का प्रयास करने वाले व्यक्ति कृष्णभावनामृत के मीठे स्वाद को नहीं जान सकते। सुख स्वामी बनने के प्रयास से नहीं आता, अपितु परमेश्वर का दासानुदास बनने से आता है। अपनी पीड़ा से छुटकारा पाने हेतु भगवान् से प्रार्थना करते समय, गजेन्द्र ने भक्तों के सुख की प्रशंसा की थी :

विशुद्ध भक्त, जो भगवान् की सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते, पूर्ण शराणागति से उनकी पूजा करते हैं तथा सदैव उनकी क्रियाओं के संबंध में श्रवण-कीर्तन करते हैं, जो परम अद्भुत तथा शुभ हैं। अतएव वे सदैव दिव्य आनंद के सागर में डूबे रहते हैं। ऐसे भक्त भगवान् से कभी कोई वरदान नहीं माँगते। (भागवत-८.३.२०)

सूत्र ६१

लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात्॥ ६१॥

लोक—संसार का; **हानौ**—हानि से संबधित; **चिंता**—चिंता; **न कार्या**—करनी नहीं चाहिए; **निवेदिता**—समर्पण करने के कारण; **आत्म**—अपना स्वयं; **लोक**—भौतिक प्रसंग; **वेदत्वात्**—और वैदिक कर्त्तव्य।

अनुवाद

अपने सब भौतिक और वैदिक कर्त्तव्यों को भगवान् को समर्पण करने के पश्चात् व्यक्ति को सांसारिक हानि के संबंध में चिंता नहीं करनी चाहिए।

तात्पर्य

इस सूत्र के कई अर्थ हैं। सर्वप्रथम, भक्त को अपनी सांसारिक स्थिति के संबंध में चिंता नहीं करनी चाहिए। भगवान् कृष्ण के शरणागत होकर, वे भगवद्-धाम लौटते हुए, सबसे शुभ मार्ग पर है। यदि उसे आर्थिक हानि या बुरे स्वास्थ्य की पीड़ा भी हो, तो वह समझता है कि भगवान् कृष्ण उसे उसकी पूर्व पापपूर्ण क्रियाओं

हेतु नाममात्र का दण्ड दे रहे हैं। और इस प्रकार वह विघ्नों के बावजूद, भक्तिमय सेवा में अविचल रहते हुए हानियों को आध्यात्मिक सम्पदाओं में बदल देता है (देखें *भागवत* १०.१४.८)

अपने निर्णय के प्रारंभ में, भक्त को भय हो सकता है कि भगवान् कृष्ण को पूर्णतः समर्पण करके वह अपना भविष्य दाँव पर लगा रहा है। अर्जुन चिंतित हुआ था कि यदि उसने *भगवद्गीता* के छठे अध्याय में कृष्ण द्वारा बताई गई ध्यान-योग पद्धत्ति को ग्रहण किया तो वह एक "असफल अध्यात्मवादी, जो प्रारंभ में श्रद्धा से आत्म-ज्ञान की पद्धति ग्रहण करता है, किन्तु जो बाद में सांसारिक मानसिकता के कारण रुक जाता है" (*भ.गी.* ६.३७) न बन जाए। यदि ऐसा होता तो, अर्जुन ने तर्क किया, वह "किसी क्षेत्र में कोई स्थिति न" पाता और इसलिए न तो भौतिक सफलता और न ही आध्यात्मिक लाभ का आनंद ले पाता। किन्तु भगवान् कृष्ण ने अपने शिष्य को विश्वास दिलाया, "शुभ क्रियाओं में संलग्न अध्यात्मवादी न तो इस जगत में और न ही आध्यात्मिक जगत में विनाश को प्राप्त होता है; मेरे मित्र, अच्छा करनेवाला कभी बुरे द्वारा पराभूत नहीं होता"। (भ.गी. ६.४०) यदि भक्त पूर्ण समर्पण के अपने प्रयास में कम भी पड़ जाये, तो उसके द्वारा संपन्न किसी भी भक्तिमय सेवा को नित्य उसी के पक्ष में गिना जायेगा। मृत्यु के समय, व्यक्ति की भौतिक सफलता हर ली जाती है, किन्तु जो कुछ भक्तिमय सेवा उसने की है, चाहे "असफलतापूर्वक" भी, वह उसके अगले जन्म हेतु लाभ है। जैसा नारद मुनि स्वयं *श्रीमद्भागवतम्* (१.५.१७) में कहते हैं :

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-
र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं
को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः।।

"भगवान् की भक्तिमय सेवा में संलग्न होने हेतु अपनी भौतिक वृत्ति का त्याग कर देने वाला अपरिपक्व अवस्था में रहते हुए कभी-कभी नीचे गिर सकता है, तथापि उसके असफल होने का कोई डर नहीं। दूसरी ओर, एक अभक्त, वृत्तिपरक कर्त्तव्यों में पूर्णतः संलग्न रहकर भी कुछ लाभ नहीं पाता" (*भागवत* १.५.१७)

न केवल भक्त को यह विचार त्याग देना चाहिए कि वह भौतिक सुख से किसी प्रकार वंचित हो रहा है, अपितु उसको इस चिंता से भी मुक्त रहना चाहिए कि वह अपने सांसारिक दायित्वों का तिरस्कार कर रहा है। यह तथ्य है कि भौतिक संसार में जन्मे प्रत्येक व्यक्ति के कई बंधन तथा नैतिक ऋण होते हैं। किन्तु भगवान् के प्रति समर्पित जीवन व्यक्ति को समस्त अन्य कर्त्तव्यों से मुक्त कर देता है—कम से

कम भगवान् के दृष्टिकोण से :

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां
न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहत्य कर्तम्॥

"जिस किसी ने अन्य समस्त कर्त्तव्यों को त्याग कर मुक्तिप्रदाता मुकुन्द के चरणकमलों का आश्रय ग्रहण किया है, एवं पूर्ण गम्भीरता से इस पथ को स्वीकार किया है, उसके लिए देवताओं, ऋषियों, सामान्य जीवों, परिवार के सदस्यों, मनुष्यों या पितरों के प्रति न तो कोई कर्त्तव्य हैं और न ही कोई ऋण।" (*भागवत* ११.५.४१)।

यदि किसी गम्भीर भक्त पर दायित्वहीन होने का आरोप लगाया जाता हो, या यदि उसका जीवन संकट में हो एवं ऐसा प्रतीत होता हो कि इसका कारण भगवान् कृष्ण में उसके समर्पण का प्रयास है, तो भगवान् की कृपा हेतु प्रार्थना करने के अतिरिक्त उसके पास कोई रास्ता नहीं। भक्त ने परम पुरुषोत्तम भगवान् को समर्पण कर दिया है, एवं वह स्वयं को "बचाने" के विभ्रमित प्रयास में समर्पण वापस नहीं ले सकता। जैसा कि भक्तिविनोद ठाकुर गाते हैं,

मारबि राखबि—यो इच्छा तोहारा
नित्यदास प्रति तुआ अधिकारा।

"अब यदि तुम चाहो तो मुझे मार दो, अथवा यदि तुम चाहो तो मुझे संरक्षण दो। तुम जो भी कुछ चाहो, वह कर सकते हो। मैं तुम्हारा नित्य दास हूँ। तुम्हें अपनी इच्छा के अनुसार मेरे साथ, किसी भी प्रकार का व्यवहार करने का अधिकार है।"

सूत्र ६२

न तत्सिद्धौ लोकव्यावहारो हेयः किन्तु
फलत्यागस्तत्साधनं च कार्यमेव॥ ६२॥

न—नहीं; **तत्**—उसका (भक्तिमय सेवा का); **सिद्धौ**—प्राप्ति में; **लोक**—भौतिक; **व्यवहारः**—व्यवसाय; **हेयः**—त्यागने हेतु; **किन्तु**—अपितु; **फल**—फलों के; **त्यागः**—त्याग; **तत्**—उसका (भक्तिमय सेवा का); **च**—और; **कार्यम**—किया जाना चाहिए; **एव**—अवश्य।

अनुवाद

भक्तिमय सेवा की प्राप्ति के पश्चात भी, व्यक्ति को इस जगत में अपने दायित्वों का त्याग नहीं करना चाहिए, अपितु अपने कर्मफलों को भगवान् को समर्पित करते रहना चाहिए। एवं शुद्ध भक्ति की अवस्था तक पहुँचने का प्रयास करते हुए अपने निर्धारित कर्त्तव्यों को अवश्य निभाते रहना चाहिए।

तात्पर्य

भगवान् कृष्ण ने समाज पर भार स्वरूप रहने वाले ढोंगी संन्यासियों की निंदा की है : "जो कर्मेन्द्रियों का संयम करता है परन्तु जिसका मन इंद्रिय विषयों में लगा रहता है, वह निश्चय ही स्वयं को धोखा देता है तथा मिथ्याचारी कहलाता है" (*भ.गी.* ३.७)। श्रील प्रभुपाद कहते हैं कि अपनी *वर्णाश्रम* उपाधि में रहकर *कर्म-योग* में कार्य करना श्रेयस्कर है :

> एक गृहस्थ भी कृष्णभावनामृत में नियमित सेवा द्वारा इस गन्तव्य (विष्णु, या कृष्ण) तक पहुँच सकता है। आत्म-ज्ञान हेतु, व्यक्ति शास्त्रों द्वारा निर्धारित नियंत्रित जीवनयापन कर सकता है, तथा अनासक्त होकर अपना व्यवसाय जारी रख सकता है, एवं उस प्रकार उन्नति कर सकता है। इस विधि का पालन करने वाला गम्भीर व्यक्ति उस मिथ्याचारी से कहीं अधिक श्रेयस्कर स्थिति में है जो अवोध लोगों को धोखा देने हेतु आडम्बरी अध्यात्म को स्वीकार करता है। रास्ते का निष्ठावान भंगी उस छलिया ध्यानी से कहीं अधिक श्रेयस्कर है, जो मात्र जीविका के लिए ध्यान करता हो। (*भ.गी.* ३.७, तात्पर्य)

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि साधारण कर्म स्वयं मानव जीवन की पूर्णता है। कर्मी नारा "कार्य ही पूजा है" कृष्णाभावनामृत में कर्म के समान नहीं। किन्तु व्यक्ति को दोनों करने चाहिए : अपनी जीविका कमाने का कर्म एवं साथ-साथ विष्णु या कृष्ण की संतुष्टि हेतु कर्म। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "इस भौतिक जगत में किया गया कोई अन्य कर्म बंधनकारक होगा, क्योंकि पुण्य और पाप दोनों कर्मों के अपने अपने फल होते हैं, तथा कोई भी फल कर्ता को बाँधता है।

अपने और अपने परिवार का भरण-पोषण करने के साथ साथ कृष्ण के लिए कर्म करना एक महान कला है, और इस नाते उसे भगवान् के भक्त के मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। यदि परिवार और समाज के प्रति कर्त्तव्य व्यक्ति के

आधारभूत आध्यात्मिक संकल्पों से भिड़ते हैं, तो व्यक्ति को आध्यात्मिक कर्त्तव्यों को सर्वप्राथमिकता देनी चाहिए। आध्यात्मिक जीवन में दीक्षा लेने वाले को प्रतिदिन निर्धारित पवित्र भगवन्नामों का जप करने तथा गुरु के आधारभूत आदेशों का पालन करने का संकल्प नहीं छोड़ना चाहिए।

वैष्णव चाहे व्यावसायिक जगत में कार्य करे अथवा संन्यासी के समान रहे, उसे कृष्णभावनामृत का प्रचार करने में झिझकना नहीं चाहिए या प्रचार के मूल्य में संदेह नहीं करना चाहिए। यदि हम प्रचार कार्य को मानवजाति का ऋण भी समझें, तो यह एक निर्णायक सामाजिक संकल्प है। एक बार एक युवक भक्त के माता-पिता ने श्रील प्रभुपाद से शिकायत की कि उसका पुत्र कृष्णभावनामृत आंदोलन में पूरे समय का साधक हो गया था। उन्होंने कहा कि वे उसे डाक्टर बनाना चाहते थे। प्रभुपाद ने उत्तर दिया कि वे युवक को स्वयं निर्णय लेने दें, और वैसे भी, संसार में कई डाक्टर थे, किन्तु गम्भीर भक्त कुछ ही थे। प्रभुपाद ने कहा कि भक्त का कार्य डाक्टर के कार्य से अधिक महत्त्वपूर्ण था। डाक्टर कुछ सौ लोगों का स्वास्थ्य ठीक कर सकता है, परन्तु वह भी अस्थायी है। औषधिक चिकित्सा रोगी को उसके *कर्म* से मुक्त नहीं करती। कर्म उसे पुनर्जन्म लेने तथा एक अन्य भौतिक शरीर में दुख पाने को बाध्य करता है। किन्तु कृष्णभावनामृत का सफलतापूर्वक वितरण करने वाला भक्त जन्म और मृत्यु से मुक्ति में लोगों की सहायता कर सकता है। इसलिए उसका कार्य संसार में सबसे महत्त्वपूर्ण है।

यद्यपि वह एक प्रवीण राजनीतिज्ञ या अर्थनीतिज्ञ न भी हो, तथापि *भक्त* लोगों के कष्ट का यथार्थ कारण—कृष्ण से उसके संबंध का विस्मरण, जो उन्हें भौतिक प्रकृति के गुणों द्वारा बद्ध होने की स्थिति तक पहुँचाता है—जानता है। यह जानकर कि भौतिक बद्धता से छूटने तक भगवान् से अपने संबंध की पुनर्स्थापना का एकमात्र उपाय भक्ति-योग है, भक्त कृष्णभावनामृत के ज्ञान का वितरण करने का प्रयास करता है। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "चूँकि भक्त कृष्णभावनाभावित होने की महत्ता को प्रसारित करने का प्रयास करता है, अतः वह संसार का सर्वोत्तम लोकोपकारक है।" (*भ.गी.* ६.३२, तात्पर्य)

प्रचारक संसार से युक्त रहता है, तथापि सांसारिक चिंताओं से परे होता है। यद्यपि कुछ योगी समाज को त्याग कर अपने निजी मोक्ष का अनुशीलन करते हैं, तथापि प्रह्लाद महाराज, चैतन्य महाप्रभु और श्रील प्रभुपाद का अनुगमनकारी भक्तियोगी संसार के लोगों के साथ करुणामय संबंध रखता है। जैसा कि चैतन्य महाप्रभु ने अपने अनुयायियों से कहा था, "इस कृष्णभावनामृत आंदोलन का वितरण सारे संसार में करो। लोगों को (भगवत्लोक के) से फल खाने को कहो

व मृत्यु से अंततः मुक्त होने दो।" (*चै. च. आदि* ९.३९)

अतएव समर्पित भक्त अपनी सांसारिक स्थिति के बारे में चिंता नहीं करता, और न ही वह भौतिक कल्याण कार्यों में सहयोग देता है। किन्तु भगवान् चैतन्य महाप्रभु एवं उनसे प्रारंभ हुई शिष्य परंपरा में आ रहे गुरुओं को संतुष्ट करने हेतु, वह कृष्णभावनामृत फैलाने द्वारा सारे जीवों के प्रति उदारतापूर्वक कार्यरत रहता है।

सूत्र ६३

स्त्रीधननास्तिकचरित्रं न श्रवणीयम्॥ ६३॥

स्त्री—स्त्रियों का; **धन**—धन; **नास्तिक**—और नास्तिक, **चरित्र**—कहानियाँ; **न श्रवणीयम्**—नहीं सुननी चाहिए।

अनुवाद

व्यक्ति को स्त्रियों, धन तथा नास्तिकों के समाचारों में मनोरंजन नहीं अनुभव करना चाहिए।

तात्पर्य

नारद ने कहा है कि भक्त संसार में अपने कर्त्तव्यों को तब तक निभा सकता है जब तक वह भगवद्-केन्द्रित है तथा अपने कर्मफलों को भक्तिमय सेवा में भगवान् को अर्पित करता है। किन्तु संसार में रहते हुए उसे पापपूर्ण जीवन तथा उसमें प्रवृत्त व्यक्तियों की अवश्य उपेक्षा करनी चाहिए (देखें सूत्र ४३ व ४४)। अब वे कहते हैं कि हमें न केवल पापपूर्ण व्यक्तियों के संग की उपेक्षा अपितु उनके बारे में *श्रवण* की भी उपेक्षा करनी चाहिए।

यदि हम माया से मुक्त होना चाहें, तो हम नारद के परामर्श को अल्पता से नहीं ले सकते अथवा उसे पुराना कहकर दुत्कार नहीं सकते। माया कोई दुर्बल प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। उसको ब्रह्माण्ड के समस्त बद्ध जीवों को कैद करने का कार्यभार सौंपा गया है, एवं उसके मुख्य अस्त्रों में से कुछ का प्रस्तुत सूत्र में निर्देश किया गया है—संभोग, धन और नास्तिकता। उसकी शक्ति के प्रति स्वस्थ सम्मान रखते हुए, हमें इन विषयों से संबंधित मायिक चर्चाओं से बचना चाहिए।

भौतिक चर्चाएँ *प्रजल्प* भी कहलाती है। अपने *उपदेशामृत* में, श्रील रूप

गोस्वामी *प्रजल्प* को भक्तिमय सेवा में आनेवाली मुख्य बाधाओं में से एक बताते हैं। एवं चैतन्य महाप्रभु ने सनातन गोस्वामी को निर्देश दिया "भक्त को ऐसे समाचारपत्रों या भौतिक पुस्तकों को पढ़ना या सुनना नहीं चाहिए जिनमें स्त्री-पुरुष के मध्य प्रेम प्रसंगों की कहानियाँ या इंद्रियों के आस्वादनीय विषय हों।" (*चै.च. मध्य* २२.१२०)

आधुनिक युग में इन निर्देशों का पालन पहले की अपेक्षा अधिक कठिन हो गया है। वायुतरंगें प्रजल्प से भरी हैं, और एक बटन दबाकर हम दूरदर्शन यंत्र चालू कर सकते हैं तथा स्वयं को दृश्य एवं श्रव्य भ्रम-जाल में फेंक सकते हैं। अजामिल के जीवन की व्याख्या में *भागवतम्* श्लोकों पर अपने तात्पर्यों को लिखते हुए, श्रील प्रभुपाद ने हमारी दुविधा पर प्रतिक्रिया की थी। अजामिल एक पुण्यवान युवक ब्राह्मण था, किन्तु एक दिन सार्वजनिक मार्ग पर चलते हुए, उसने एक निम्न जाति के पुरुष को वेश्या का आलिंगन करते देखा और वह कामवासना से पराभूत हो गया। प्रभुपाद लिखते हैं, "कलियुग में, शराबी पुरुष को आलिंगन करती हुई नशे में चूर अर्धनग्न स्त्री का दृश्य अतिसामान्य है, विशेषरूप से पाश्चात्य देशों में, एवं ऐसी वस्तुएँ देखकर अपने पर संयम रखना कठिन है। फिर भी, यदि कृष्ण की कृपा से व्यक्ति निषेधिक सिद्धांतों पर अडिग रहे तथा *हरे कृष्ण महामंत्र* का जप करे, तो कृष्ण अवश्य उसका संरक्षण करेंगे।" (*भागवत*. ६.१.६०, तात्पर्य)

हम शून्य में प्रभुपाद के परामर्श का पालन करने की अपेक्षा नहीं कर सकते। जबतक हमारे पास बातचीत करने को कृष्णभावनाभावित मित्रगण नहीं हों तथा रहने को भक्तों का समाज न हो, तब तक हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं, "संभोग, धन और नास्तिकों की चर्चाओं की उपेक्षा करना असंभव है। मुझसे क्या अपेक्षित है, किसी गुफा में अकेले रहना?" नहीं, और यही उन कारणों में से एक है जिसके लिए श्रील प्रभुपाद ने अंतर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ की स्थापना की—सबको भक्तों के समाज में कृष्ण-कथा सुनने का अवसर देने के लिए। ऐसे अभ्यास के लाभ अनगिनित हैं, जैसा भगवान् कपिल *भागवत* (३.२५.२५) में कहते हैं :

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

"केवल भक्तों के समाज में ही आध्यात्मिक रूप से शक्तिमान भगवद्-संदेश की उपयुक्त चर्चा की जा सकती है, और उस संग में इसका श्रवण महान आनंददायक होता है। यदि कोई भक्तों से सुने, तो दिव्य अनुभव का मार्ग उसके प्रति शीघ्रतापूर्वक

खुल जाता है, तथा वह क्रमशः दृढ़ विश्वास प्राप्त करता है जो कुछ अन्तराल में आसक्ति तथा भक्ति के रूप में विकास कर लेता है।"

प्रजल्प एवं मानसिक प्रदूषण के प्रति आंदोलन में हमारे अस्त्र उपन्यास, नाटक, चित्र, फिल्में, संगीत रिकार्डिंग, उत्सव, औपचारिक व्याख्यान, सेमिनार एवं अनौपचारिक सभाएँ—जो सभी कृष्ण पर केंद्रित हों—हो सकते हैं। विमोहनकारी शक्तियों के पास ही सारे अस्त्र क्यों रहें? भक्तों के पास क्यों नहीं?

नारद ने पहले कहा था कि भक्ति सुलभ है। सारी भौतिक शब्दतरंगों की उपेक्षा करना, निश्चय ही, सरल नहीं किन्तु शुद्ध भक्त के मार्गदर्शन में हम घर पर या मित्रों के साथ कृष्ण-कथा का सुंदर सुग्राह्य वातावरण बना सकते हैं—कार चलाते हुए भी तथा कामकाज करते हुए भी—और यह श्रवण हमें *विष्णु-स्मरणम्* तक पहुँचायेगा।

सूत्र ६४

अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम्॥ ६४॥

अभिमान—अभिमान; **दम्भ**—दम्भ; **आदिकं**—आदि; **त्याज्यम्**—त्याग देना चाहिए।

अनुवाद

व्यक्ति को मिथ्या अभिमान, दम्भ आदि का त्याग कर देना चाहिए।

तात्पर्य

माया इतनी सूक्ष्म है कि यदि कोई संभोग, धन, और नास्तिकों से संबधित श्रवण की उपेक्षा भी करे, एवं यदि कोई भक्तों के समाज से भी जुड़ जाए, तथापि वह अभिमान और दम्भ का शिकार हो सकता है। व्यक्ति सोच सकता है, "मैं अन्यों से अधिक श्रेष्ठ भक्त हूँ" और इस प्रकार स्वयं को पतन की ओर ले जा सकता है। अभिमान का समाधान यह स्मरण रखना है कि हमारी आध्यात्मिक संपदा सहित हमारा सौभाग्य भगवान् एवं गुरुओं की कृपा के कारण है।

नारद ने अन्य अवगुणों हेतु *"आदि"* शब्द का प्रयोग किया है। उन आसुरी गुणों का *भगवद्गीता* के सोलहवें अध्याय में उल्लेख किया गया है। इन सभी को उपेक्षित करना चाहिए। व्यक्ति को विशिष्ट खराब आदतों से अवगत होना चाहिए

तथा उन्हें हटाने का प्रयास करना चाहिए। इसीलिए नारद और आचार्यगण बहुधा विस्तृत निर्देश देते हैं। हम प्रत्येक अनर्थ का परीक्षण कर सकते हैं तथा देख सकते हैं कि उसका त्याग करने हेतु हम क्या करें। जब हम स्वयं को अनावश्यक विचारों या क्रियाओं में प्रवृत्त होते हुए पकड़ें, तो हमें उन्हें शीघ्रातिशीघ्र रोक देना चाहिए।

इसी के साथ-साथ, सर्वसम्मिलित सोच भी संस्तुत है। अर्थात, हमें इसका निश्चय होना चाहिये कि *भक्ति-योग* का गम्भीरतापूर्ण अनुशीलन हमारी सारी अनचाही आदतों और इच्छाओं को दूर कर देगा। वास्तव में, यदि हम अवगुणों को एक के बाद एक दूर करना चाहें, तो हम असफल हो जायेंगे। परन्तु भक्ति से हम उन्हें पूर्णरूपेण नष्ट कर सकते हैं। जैसा कि *श्रीमद्भागवतम्* (६.१.१५) में कहा गया है,

केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः।
अघं धुन्वन्ति कात्स्न्येन नीहारमिव भास्करः॥

"कृष्ण के प्रति पूर्ण, विशुद्ध भक्तिमय सेवा को ग्रहण करनेवाला दुर्लभ व्यक्ति ही पापपूर्ण क्रियाओं के अपतृणों को उनके पुनः उपजने की संभावना से विहीन करके उखाड़ सकता है। वह ऐसा केवल भक्तिमय सेवा के सम्पादन से कर सकता है, जैसे सूर्य अपनी किरणों से कोहरे को तुरंत तितर-बितर कर सकता है।"

भक्तिमय सेवा पाप और पुण्य दोनों से परे है। *हरे कृष्ण* के जप, भगवान् कृष्ण संबंधी श्रवण, तथा कृष्णभावनामृत की अन्य नियमित सेवाओं के पालन द्वारा व्यक्ति पापपूर्ण जीवन के समस्त पक्षों तथा समस्त अनचाही आदतों को पराभूत कर देता है।

इस सिद्धांत का व्यावहारिक उपयोग *साधन-भक्ति* में विश्वास और दृढ़ता से अध्यवसाय करना है। इसे *श्रद्धा* कहते हैं, अर्थात् यह विश्वास कि कृष्णभावनामृत के अभ्यास द्वारा व्यक्ति समस्त लक्ष्यों को प्राप्त करेगा। श्रील रूप गोस्वामी भी *निश्चय*, "विश्वासयुक्त प्रयास", की संस्तुति करते हैं (*उपदेशामृत*, श्लोक ३)। श्रील प्रभुपाद अपने तात्पर्य में लिखते हैं, "भक्तिमय सेवा में समर्पण का अर्थ निश्चयी होना है। भक्त सोचता है, अवश्य *रक्षिबे कृष्णः* 'कृष्ण अवश्य मेरी रक्षा करेंगे एवं भक्तिमय सेवा के सफलतापूर्वक प्रतिपादन में मुझे सहायता प्रदान करेंगे।' " और इसलिए भक्त नकारात्मक तथा सकारात्मक दोनों विधियों का उपयोग करता है : वह निष्ठापूर्वक विशिष्ट अनचाही आदतों को हटाने की इच्छा करता है, किन्तु साथ ही साथ वह निश्चित होता है कि भक्तिमय सेवा में उसकी संलग्नता ज्वलायमान अग्नि के समान है जो पापपूर्ण क्रियाओं के ईंधन को जलाकर राख कर देगी।

सूत्र ६५

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्॥ ६५॥

तत्—उनके प्रति; **अर्पित**—अर्पित; **अखिल**—सब; **आचारः**—क्रियाएँ; **सन्**—होना; **काम**—इच्छा; **क्रोध**—क्रोध; **अभिमान**—अभिमान; **आदिकं**—आदि; **तस्मिन्**—उनके प्रति; **एव**—केवल; **करणीयम्**—करना चाहिये।

अनुवाद

अपनी समस्त क्रियाओं को भगवान् को अर्पण करते हुए, व्यक्ति को काम, क्रोध और अभिमान का अनुभव केवल उन्हीं के लिए करना चाहिए।

तात्पर्य

नारद अब परामर्श देते हैं कि साधारणतया अवगुण मानी जाने वाली वृत्तियाँ अनुकूल भक्तिमय सेवा की ओर मोड़ी जा सकती हैं। यह नारद के पूर्व कथन का विरोध नहीं करता कि अभिमान, क्रोध और काम का त्याग कर देना चाहिए। शुद्ध भक्त सदैव अवगुणों से मुक्त होता है, एवं अभ्यासरत भक्त अपनी इंद्रियों तथा मन के हर संभव नियंत्रण द्वारा उनसे मुक्त होने का प्रयास करता है। अतः नारद यहाँ भगवान् के संबंध में क्रोध, अभिमान और काम के दिव्य प्रयुक्तिकरण की बात कहते हैं।

मुक्त भक्तगण बहुधा तथाकथित अवगुणों को भक्तिमय सेवा में नियोजित करते हैं, और हम उनसे वह कला सीख सकते हैं। हनुमान ने भगवान् राम के शत्रु, रावण, पर क्रोध व्यक्त किया। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को क्रोधी होने को उकसाया जिससे वह कुरूक्षेत्र के युद्ध में लड़ सके। चैतन्य महाप्रभु भी शराबी भाइयों जगाई और मधाई से क्रोधित हो गए। ये सुनिर्देशित क्रोध के उदाहरण हैं। हम क्रोध को पूर्णतः समाप्त नहीं कर सकते। जैसा श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "मन में शून्य बनाने का प्रयास कृत्रिम है। वह शून्य रहेगा नहीं। परन्तु, यदि व्यक्ति सदैव कृष्ण एवं कृष्ण की सर्वोत्तम सेवा के विषय में सोचे, तो उसका मन स्वाभाविक रूप से नियंत्रित हो जायेगा।" (*उपदेशामृत*, श्लोक १, तात्पर्य)

कृष्ण की ओर निर्देशित क्रोध भी भक्तिमय सेवा का अंश हो सकता है।

उदाहरणस्वरूप, गोपियाँ प्रेम-कलहों के बीच बहुधा कृष्ण से क्रोधित हो जाया करती थीं। एक बार श्रीमती राधारानी कृष्ण से अप्रसन्न हो गईं और उन्होंने अपनी सहायिकाओं को आदेश दिया कि किसी भी प्रकार कृष्ण को उन्हें देखने से रोकें। गोप बालक वन में कृष्ण से लड़ते थे, और खेल की गर्मी में वे कभी-कभी कृष्ण से क्रोधित हो जाते तथा उनसे कहते कि वे उनके साथ और नहीं खेलेंगे। भगवान् कृष्ण प्रेम के इन उलाहनों को बहुत पसंद करते थे तथा अपने सखाओं से क्षमा माँगते थे।

परन्तु, भगवान् के प्रति कंस का द्वेष *भक्ति* नहीं था। कंस भयभीत था कि कृष्ण उसे कहीं मार न दें, और इसलिए उसका मन भगवान् से शत्रुता में मग्न हो गया था। प्रभुपाद लिखते हैं, "एक महान भक्त की मनःस्थिति भी कृष्ण में मग्न रहने की होती है, किन्तु भक्त उनका अनुकूलतापूर्वक स्मरण करता है, प्रतिकूलतापूर्वक नहीं।" (*लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण*)

हमें शुद्ध भक्तों के दिव्य भावों का अनुकरण नहीं करना चाहिए, किन्तु हम उनका श्रवण करके उत्साहित हो सकते हैं। हमें संयमपूर्वक उस दिन की प्रतीक्षा करनी चाहिए जब ये भाव हम में स्वाभाविक रूप से प्रकाशित होंगे। उस समय हम यदि चाहें भी तो उन्हें रोक नहीं पायेंगे। इस अन्तराल में, हम कृष्ण का संदेश फैलाने के अवसर हेतु लोभी होने का, कृष्ण के हमारे स्वामी होने तथा श्रील प्रभुपाद जैसे उच्चावस्थित गुरु होने के अभिमान का, एवं भक्ति की प्राप्ति से रोकनेवाले मायिक अवरोधों पर क्रोध करने का, अभ्यास कर सकते हैं। यदि हम इस प्रकार भगवान् कृष्ण हेतु सभी वस्तुओं का प्रयोग करना सीख जाएँ तो हम प्रस्तुत सूत्र में नारद द्वारा प्रतिपादित महत्त्वपूर्ण शिक्षा ग्रहण कर लेंगे।

सूत्र ६६

त्रिरूपभंगपूर्वकं नित्यदास्यनित्यकान्ताभजनात्मकं प्रेम कार्यं प्रेमैव कार्यम्॥ ६६॥

त्रिरूप—तीन भौतिक रूपों का (सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण); **भंग**—टूटना; **पूर्वकम्**—के पूर्व; **नित्य**—सदैव; **दास्य**—दास्य; **नित्य**—सदैव; **कान्ता**—प्रेमी; **भजन**—सेवा; **आत्मकम्**—से निर्मित; **प्रेम**—शुद्ध प्रेम; **कार्यं**—प्रकाशित करना चाहिए; **प्रेम**—शुद्ध प्रेम; **एव**—केवल; **कार्यम्**—प्रकाशित करना चाहिए।

अनुवाद

प्रकृति के गुणों के पूर्वोक्त तीन आवरणों को तोड़ने के पश्चात, व्यक्ति को नित्य दास्य या कांता भाव में रहकर एकमात्र शुद्ध भगवत्प्रेम में क्रिया करनी चाहिए।

तात्पर्य

जैसा कि सूत्र ५६ में वर्णित है, गुणों (सत्व, रजस, तमस) से दूषित भक्तिमय सेवा के तीन गौण रूप होते हैं। ये सकाम भक्तों द्वारा अभ्यासित होते हैं, जो दुख में अथवा धन, या ज्ञान की खोज में भगवान् के पास आते हैं। व्यक्ति को भक्ति के इन गौण प्रकारों से परे होकर केवल प्रेमसहित भगवान् के पास जाना चाहिए। अन्य शब्दों में, यहाँ नारद हमें स्वतःस्फूर्त अवस्था पर आने को उत्साहित कर रहे हैं, जैसा कि नित्य *दास* तथा *नित्य-कांता-भजन* के रसों में होता है। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि हमने पारम्परिक अर्थ में धार्मिक बनकर—मंदिर में जाने तथा औपचारिक प्रार्थनाओं व दान द्वारा—भक्ति का पाठ्यक्रम पूर्ण कर लिया है।

एक गुरु के रूप में, नारद ने दायित्वपूर्ण ढंग से भक्ति की निम्न अवस्थाओं की शिक्षा दी है एवं किसी को बूँद भर विश्वास के लिए भी प्रोत्साहित किया है। किन्तु यह पुनर्स्मरण कराना भी उनका दायित्व है कि लक्ष्य प्रेम, और केवल प्रेम है। उनकी विधि *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण की विधि के समान है जहाँ भगवान् कृपापूर्वक सभी प्रकार के कर्मी, ज्ञानी तथा योगी जनों को उत्साहित करते हैं—उनको यह परामर्श देते हुए कि भगवान् की ओर उतरोत्तर अपना ध्यान कैसे मोड़ा जाए। परन्तु तब वह सार-तत्व बताकर समाप्ति करते हैं, "विभिन्न प्रकार के धर्मों का परित्याग करो तथा एकमात्र मेरी शरण में आ जाओ।" (*भ.गी.* १८.६६)

प्रेम के कारण, पुरस्कार की अपेक्षा से रहित होकर, एक समर्पित सेवक स्वामी को एवं पत्नी अपने पति को प्रसन्न करने का प्रयास करती है। हम आध्यात्मिक जगत में *दास्य* की पूर्णता कृष्ण के रक्तक, दारूक और पत्री जैसे दासों में देखते हैं, तथा *कांता भक्ति* की पूर्णता द्वारका की रानियों में देखते हैं। भगवान् कृष्ण में हम पूर्ण स्वामी और पूर्ण प्रेमास्पद पाते हैं, और इसलिए उनके दास एवं कांतायें क्रमशः *नित्य-दास* तथा *नित्य-कांता* के रूप में नित्य मुक्त हैं। ऐसे मुक्त जीवों के पदचिन्हों का अनुगमन करके, इस संसार के भक्तों को शुद्ध प्रेम के स्तर पर भक्तिमय सेवा के अभ्यास का संघर्ष करना चाहिए। जैसा कि *चैतन्य-मंजुषा* में कथित है : *प्रेमा पुमार्थो महान्।* "कृष्ण के प्रति प्रेम ही जीवन का परम लक्ष्य है।"

सूत्र ६७

भक्ता एकान्तिनो मुख्याः ॥ ६७ ॥

भक्ताः—भक्तगण; **एकान्तिनः**—एकनिष्ठ; **मुख्याः**—मुख्य।

अनुवाद

भगवान् के भक्तगणों में, सर्वोपरि वे हैं जो केवल उनके अंतरंग दासों के रूप में उनके प्रति समर्पित हैं।

तात्पर्य

कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्री श्रीमद् अभयचरण भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद ने *एकांत-भक्ति* का एक सुंदरतम उदाहरण दिखाया। प्रभुपाद ने अनेक प्रकार से इसे दिखाया। उदाहरणस्वरूप, श्रीकृष्ण के ग्रंथ, *भगवद्गीता,* पर उनकी टीका कृष्ण के वास्तविक अभिप्राय से तनिक भी भ्रष्ट नहीं होती। *भगवद्गीता* पर अत्यधिकतर टीकाओं को मायावाद ने दूषित कर रखा है, किन्तु *भगवद्गीता यथारूप* में श्रील प्रभुपाद के तात्पर्य पाठक को सीधे कृष्ण के चरणकमलों में ले जाते हैं। यह प्रभुपाद के सभी ग्रंथों हेतु सत्य है—*श्रीमद्भागवतम्, चैतन्य-चरितामृत,* इत्यादि। उनका संस्कृत का या बंगला का अनुवाद पांडित्य की दृष्टि से सदैव परिशुद्ध होता है, किन्तु साथ-साथ वे शुद्ध भक्त के रूप में लिखते हैं : "कृष्ण को समर्पण करो।"

श्रील प्रभुपाद के सभी स्वतःस्फूर्त कथोपकथनों में, वे एकनिष्ठता से कृष्णभावनाभावित थे। जब वे कृष्ण के विषय में बोलते, तो वे अपने प्रियतम सखा के विषय में बोलते प्रतीत होते, अपने द्वारा पढ़े हुए की वे पुनरावृत्ति मात्र नहीं करते थे। कभी-कभी उनकी कृष्ण-कथा किसी नास्तिक वैज्ञानिक को परम नियन्ता के अस्तित्व के बारे में आश्वस्त करने का रूप धर लेती, कभी वे अपने शिष्यों को कृष्ण की लीलायें सुनाते, और कभी कभी वे भक्तों को विश्वास दिलाते कि कृष्ण हमारे हृदयों में हैं तथा वे हमें कठिन सेवा के सम्पादनार्थ बुद्धि प्रदान करेंगे। श्रील प्रभुपाद ने इस एकनिष्ठता को सतत यात्रा की कठिनाइयों से जूझते हुए एवं संसार के बृहद्तम शहरों में रहते हुए भी बनाए रखा। प्रभुपाद जहाँ भी रहते, कृष्ण के मिशन पर होते थे।

भक्तिमय सेवा में एकनिष्ठ होने का अर्थ वास्तविकता नकारना नहीं है। यदि व्यक्ति सापेक्ष सत्यों पर केंद्रित हो जाए या किसी साधारण व्यक्ति के प्रति अपना

समर्पण कर दे तो एकनिष्ठता साम्प्रदायिक बन सकती है। किन्तु जब प्रशंसा की विषयवस्तु परम पुरुषोत्तम भगवान् हों, तो व्यक्ति उदारतम दृष्टि—*महात्मा* की दृष्टि—प्राप्त करता है।

कृष्ण पर स्थिर भक्त ने पूर्ण सत्य को वास्तव में पा लिया है। पूर्ण सत्य में भगवान् के होने की बात *ईशोपनिषद्* के आह्वान में कही गई है : *ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्*। "भगवान् का व्यक्तित्व पूर्ण है।" प्रसिद्ध वैदिक सूत्र *तत् त्वमसि*, "आप वही हैं" का उच्चारण करता हुए भक्त भगवान् का परमपूर्ण सत्य के रूप में यशोगान करता है। निर्विशेषवादी दार्शनिक *तत् त्वम् असि* सूत्र की सराहना करते हैं क्योंकि वे उसका यह अर्थ निकालते हैं कि वे रूपविहीन ब्रह्म से एक हैं। किन्तु *तत् त्वमसि* का यथार्थ अर्थ भिन्न है। जब भक्त "आप वही हैं" कहता है, तो वह परमेश्वर को सम्बोधित कर रहा होता है। श्रील प्रभुपाद *भगवद्गीता* (४.९) पर अपने तात्पर्य में व्याख्या करते हैं :

> वैदिक सूत्र *तत् त्वमसि* इस संदर्भ में वास्तविक रूप से लागू होता है। जो भी व्यक्ति भगवान् कृष्ण को परम तत्व समझता है, अथवा जो भगवान् के प्रति कहता है, "आप वही परम ब्रह्म, भगवद्-व्यक्तित्व हैं", वह निश्चय ही तुरंत मुक्त हो जाता है, और फलतः भगवान् के दिव्य संग में उसका प्रवेश निश्चित हो जाता है।

सब वस्तुओं में कृष्ण को देखने वाला शुद्ध भक्त भगवान् के लिए, विभिन्न प्रकार की सेवाएँ करते हुए भी, उन पर एकाग्र ध्यान स्थिर कर सकता है। इसके विपरीत, भौतिकतावादी व्यक्ति एकांती, या केंद्रित, नहीं हो सकते। चूँकि इंद्रियतृप्ति का क्षेत्र बद्ध जीवों को अनेक दिशाओं में लालायित करता है, एवं चूँकि मन बहुत चंचल है, अतः सुखवादी व्यक्ति का ध्यान बिखरा हुआ होता है जैसे भगवान् कृष्ण कहते हैं,

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।

"इस पथ के व्यक्ति अपने उद्देश्य में दृढ़ होते हैं, एवं उनका लक्ष्य एक होता है। हे कुरुनन्दन, अदृढ़ व्यक्तियों की बुद्धि बहुशाखामयी होती है।" (*भ.गी.* २.४१)

शुकदेव गोस्वामी भी *श्रीमद्भागवतम्* (२.१.२) में भौतिकतावादी की इसी प्रकार व्याख्या करते हैं:

श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः।
अपश्यतां आत्मतत्वं गृहेषु गृहमेधिनाम्॥

"हे महाराज! जो व्यक्ति परम सत्य के ज्ञान के प्रति अंधे होकर भौतिकता में निमग्न रहते हैं, उनके पास मानव समाज में श्रवण हेतु अनेक विषय-वस्तुएँ होती हैं।" राजनीतिक कार्य या वैज्ञानिक खोज या सामाजिक और आर्थिक उन्नति में निमग्न रहकर, गृहमेधी लोग बुढ़ापे, रोग एवं मृत्यु की परम समस्याओं को एक ओर रख देते हैं। वे आत्मज्ञान के संबंध में जिज्ञासा नहीं करते, जिससे वे अंततः कृष्णभावनामृत तक पहुँच पायें। किन्तु भक्ति में सफल होने के इच्छुक व्यक्ति को विभ्रमकारी विकर्षणों का जीवन त्याग देना चाहिए और गुरु के मार्गदर्शन में भक्तिमय सेवा को ग्रहण करना चाहिए।

कृष्ण के प्रति एकनिष्ठ भक्ति के अनुशीलन का सर्वश्रेष्ठ उपाय *हरे कृष्ण महामंत्र* का जप/कीर्तन है। यह अभ्यास कलियुग के लिए शास्त्रों तथा आचार्यों द्वारा संस्तुत भक्तिमय सेवा का मुख्य अंग है। इस एक सरल क्रिया—पवित्र भगवन्नाम का श्रवण-कीर्तन—के द्वारा हम भगवान् कृष्ण की सेवा उनके सबसे प्रिय ढंग से करते हैं। हरिदास ठाकुर ने हरिनाम जप को अपनी एकांत सेवा बनाकर एक उदाहरण स्थापित किया। निष्ठावान गौड़ीय वैष्णवगण प्रतिदिन कम से कम सोलह माला *हरे कृष्ण* जप करके उनके पदचिन्हों का अनुगमन करते हैं। जैसा कि *चैतन्य-चरितामृत* (*अन्त्य* ३.२६८) में कहा गया है, "कृष्ण का पुण्य नाम इतना आकर्षक है कि जो भी उसका उच्चारण करे—समस्त चराचर जीव, एवं स्वयं भगवान् कृष्ण भी—कृष्ण-प्रेम में सराबोर हो जाता है। *हरे कृष्ण* मंत्र के कीर्तन का यही प्रभाव है।"

प्रारंभिक अवस्थाओं में, चञ्चल मन लम्बी अवधि तक *हरे कृष्ण* जप करने हेतु आवश्यक एकनिष्ठ भक्ति में रुकावट उत्पन्न करता है। भगवन्नाम वास्तव में सबसे मीठा अमृत है, किन्तु भक्ति की स्वतः स्फूर्त अवस्था तक पहुँचने तक, व्यक्ति को दुष्ट मन को पराभूत करना पड़ता है। मन को *चंचल* कहा जाता है, किन्तु यह भक्त का सर्वोत्तम मित्र बन सकता है। जब कोई *हरे कृष्ण* जप करे एवं ध्यान व भक्ति से अन्य कर्त्तव्यों का पालन करे, तो मन निर्मल हो जाता है तथा भक्त को अपने वास्तविक हित का अनुभव होता है। तब भक्त *एकान्तिन* भाव से पवित्र नामों की सेवा के प्रति आकर्षित हो जाता है, जिसे नारद मुनि यहाँ सर्वोपरि कहकर संस्तुत करते हैं।

सूत्र ६८

कण्ठावरोधरोमाश्रुभिः परस्परं लपमानाः
पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च॥६८॥

कण्ठ—कंठ; **अवरोध**—अवरोध; **रोम**—रोम; **अश्रुभिः**—और अश्रुसहित; **परस्परं**—एक दूसरे से; **लपमानाः**—बातें करते; **पावयन्ति**—पवित्र करते हैं; **कुलानि**—अपने कुलों को; **पृथिवीं**—पृथ्वी; **च**—और।

अनुवाद

अवरुद्ध कण्ठों से, रोमाञ्चित होकर, बहते अश्रुओं सहित परस्पर सम्भाषण करते हुए भगवान् के अंतरंग भक्तगण अपने कुलों को तथा सम्पूर्ण पृथ्वी को पवित्र करते हैं।

तात्पर्य

कोई पूछ सकता है, "क्या नारद मुझसे महान भक्त बनने तथा ऐसे परमानंद का अनुभव करने की अपेक्षा करते हैं?" उत्तर है हाँ, भक्तिमय सेवा का भावानन्द सबके लिए खुला है। किन्तु कोई विनम्र भक्त अनेक जीवनकालों तक कृष्णभावनामृत की उन्नत अवस्थाओं के अनुभव हेतु स्वयं को अनुपयुक्त मान सकता है। इस पृथ्वी पर आए महात्माओं के अद्‌भुत प्रभाव की कम से कम कुछ सराहना करने का प्रयास करके हम प्रस्तुत सूत्र की सर्वोच्च प्रतिक्रिया कर सकते हैं। यह हमें ऐसे महात्माओं के दासानुदासों का संग खोजने, उनके मिशन में उनकी सहायता करने तथा माया-जगत के प्रति उनसे आश्रय ग्रहण करने की प्रेरणा देगा।

परमानंद के लक्षणों का अनुकरण नहीं करना चाहिए, किन्तु उनके अनुभव की कामना करना गलत नहीं। *भक्तिरसामृतसिन्धु* में, रूप गोस्वामी हमें लाभ की किसी इच्छा के बिना भगवान् की सेवा के प्रति स्वतः स्फूर्त आसक्ति का विकास करने को उत्साहित करते हैं। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं,

> अन्य शब्दों में, व्यक्ति को सीखना चाहिए कि भगवान् के लिए कैसे रोया जाए। व्यक्ति को यह छोटी तकनीक सीखनी चाहिए, तथा किसी विशिष्ट सेवा में नियुक्ति हेतु बहुत आतुर होना तथा वास्तव में रोना चाहिए। यह *लौल्यम्* कहलाता है, और ऐसे आँसू सर्वोच्च सिद्धि का मूल्य होते हैं। (*भक्तिरसामृतसिन्धु*)

भगवान् के लिए अतरंग तथा स्वतःस्फूर्त भावों का अभाव यह निर्देशित कर सकता है कि हम अभी भी पवित्र भगवन्नाम के प्रति दस अपराधों में से एकाधिक अपराध कर रहे हैं, अथवा हम *नारद-भक्ति-सूत्र* में वर्णित अवगुणों में से कुछ में प्रवृत्त हो रहे हैं। जैसे चैतन्य महाप्रभु, नवदीक्षित की भूमिका लेकर, अपने *शिक्षाष्टक* (२) में शोक करते हैं, "मैं इतना दुर्भाग्यशाली हूँ कि मैं पवित्र नाम का जप करते हुए अपराध करता हूँ, और इसलिए मुझे नाम जप के प्रति रुचि नहीं होती।"

यद्यपि भगवत्प्रेम के आनंद (भाव) के लक्षणरूपी शारीरिक परिवर्तन कभी कभी महात्माओं द्वारा प्रदर्शित होते हैं, तथापि मिथ्याचारी उनकी नकल कर सकते हैं। परन्तु यथार्थ भाव का प्रकाश स्थिर लक्षणों द्वारा होता है :

> भौतिक कामनाओं की समाप्ति (*क्षान्ति*), भगवान् की दिव्य प्रेमपूर्ण सेवा में प्रत्येक क्षण का उपयोग (*अव्यर्थ-कालत्वम*), भगवान् का सतत यशोगान करने की आतुरता (*नाम-गाने सदा रुचिः*), भगवान् के स्थल पर रहने का आकर्षण (*प्रीतिस्तद-वसति-स्थले*), भौतिक सुख से पूर्ण वैराग्य (*विरक्तिः*), और *मानशून्यता*—जिसने इन सब दिव्य गुणोंका विकास कर लिया हो, वही *भाव* अवस्था का वास्तविक अधिकारी है, पाषाणहृदयवान नकलची या भौतिक भक्त नहीं। (*भागवत* २.३.२४, तात्पर्य)

भगवान् के शुद्ध भक्तों का प्रभाव बहुत गहरा होता है। उनकी बातचीत पूर्णतः कृष्णभावनाभावित होती है, और उसी कारण वह उसे सुनने वाले प्रत्येक व्यक्ति को, यहाँ तक कि उनके रहने के स्थान को भी, शुद्ध करती है। जब प्रामाणिक भक्तगण कृष्ण-कीर्तन करते हैं अथवा कृष्ण से संबंधित विषयों की चर्चा करते हैं तो भगवान् व्यक्तिगत रूप से उपस्थित होते हैं :

> भगवान् कृष्ण के विषय इतने शुभ हैं कि वे वक्ता, श्रोता और प्रश्नकर्ता को शुद्ध करते हैं। उनकी तुलना गंगाजल से की जाती है, जो भगवान् कृष्ण के अंगूठे से बहता है। गंगाजल जहाँ भी जाये, वह भूमि को एवं उस जलमें नहाने वाले व्यक्ति को शुद्ध करता है। इसी प्रकार, *कृष्ण-कथा* इतनी शुद्ध है कि जहाँ भी वह कही जाये, वहाँ का स्थान, श्रोता, प्रश्नकर्ता, वक्ता, और सभी संबंधित जीव शुद्ध हो जाते हैं (*भागवत* २.१.१, तात्पर्य)

भक्त के प्रभाव का व्यावहारिक फल यह है कि लोग आध्यात्मिक जीवन स्वीकार करते हैं तथा अपनी पापपूर्ण आदतों को छोड़ते हैं। समाज में भक्तिमय

परिवर्तन के बिना, मानवता बर्बर योनि में पतित हो जाएगी। प्रभुपाद लिखते हैं, "गुर्राते कुत्ते-बिल्लियों के समान मनुष्य शत्रुता में एक दूसरे का सामना करते हैं। *श्रीईशोपनिषद्* कुत्ते-बिल्लियों को परामर्श नहीं दे सकता, परन्तु प्रामाणिक आचार्यों के द्वारा यह मनुष्य को भगवत्संदेश पहुँचाता है।" (*ईशोपनिषद्* १, तात्पर्य)

कम से कम व्यक्तिगत आधार पर प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को सेवा करने को आगे आकर तथा प्रस्तुत सूत्र में नारद द्वारा वर्णित योग्यता के अनुरूप वैष्णवों से श्रवण करके स्वयं को बचाना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति शुद्ध भक्त के संरक्षण में है तथा गम्भीरतापूर्वक भक्ति-योग में उसकी सेवा करता है, तो वह संपूर्ण विश्व जनसंख्या के संग्रहित पापपूर्ण कर्म समेत, सारी पापपूर्ण प्रतिक्रियाओं का प्रतिकरण करने में समर्थ होगा। नारद भक्तों के प्रभाव की प्रशंसा करते हैं, किन्तु भगवान् कृष्ण नारद के प्रभाव की प्रशंसा करते हैं :

> यदि कोई अकस्मात नारद-सदृश महान संत-प्रकृति व्यक्ति को, जो कि सदैव प्रशांत तथा सबके प्रति कृपालु हो, आमने-सामने देखने में समर्थ हो जाए, तो वह बद्ध जीव तुरंत मुक्त हो जाता है। यह सूर्य के पूर्ण प्रकाश में स्थित रहने के समान है; वहाँ कोई दृष्टिगत अवरोध नहीं हो सकता। (*लीला पुरुषोत्तम श्री कृष्ण*)

सूत्र ६९

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि॥ ६९॥

तीर्थी—तीर्थों में; **कुर्वन्ति**—वे बनाते हैं; **तीर्थानि**—तीर्थ; **सुकर्मी**—शुभ कर्मों में; **कुर्वन्ति**—वे बनाते हैं; **कर्माणि**—कर्म; **सत्**—शुद्ध; **शास्त्री**—शास्त्रों में; **कुर्वन्ति**—वे बनाते हैं; **शास्त्राणि**—शास्त्र।

अनुवाद

उनका संग तीर्थों को शुद्ध, कर्मों को शुभ, और शास्त्रों को प्रामाणिक बना देता है।

तात्पर्य

तीर्थ एक पवित्रीकृत स्थान है क्योंकि वहाँ पर भगवान् ने अपनी लीलाएं की थीं। उदाहरणस्वरूप, वृन्दावन तीर्थ है क्योंकि श्रीकृष्ण ने वहाँ अपना यौवन बिताया था, नवद्वीप क्योंकि श्रीचैतन्य महाप्रभु ने वहाँ अपने संकीर्तन आंदोलन का प्रारंभ किया था। ध्रुवघाट या नैमिषारण्य जैसे स्थल, जहाँ महाजनों ने भक्तिमय सेवा की थी, भी तीर्थ हैं। भक्त तीर्थों में निवास करना तथा वहाँ अपना भजन करना चाहते हैं, एवं शुद्धि की खोज में तीर्थयात्री इन तीर्थों में से बहती हुई पावन नदियों में स्नान करना चाहते हैं। किन्तु तीर्थयात्रियों के, जो तीर्थ की यात्रा करते हुए भी कभी-कभी नए पाप करते हैं, पापों से तीर्थ लद जाते हैं। संसार के सभी धर्मों में, व्यवसायिकता के उपजने तथा प्रसिद्ध पुण्य-स्थलों को दूषित करने की संभावना रहती है। इसी के कारण, गौड़ीय वैष्णव आचार्य नरोत्तम दास ठाकुर ने कहा है कि कलियुग में तीर्थयात्रा करने से मन भ्रमित होता है। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं :

> भारत में अभी भी यह रीति है कि अनेक उन्नत अध्यात्मवादी अपने पारिवारिक जीवनों को त्याग देते हैं तथा वृंदावन में एकाकी रहने तथा भगवान् की पुण्य लीलाओं के श्रवण-कीर्तन में पूर्णतः संलग्न होने हेतु वहाँ जाते हैं। यह पद्धति *श्रीमद्भागवतम्* में संस्तुत है, तथा वृन्दावन के छः गोस्वामियों ने इसका पालन किया था, किन्तु वर्तमान समय में अनेक कर्मीजनों तथा ढोंगी भक्तों ने, शुकदेव गोस्वामी द्वारा संस्तुत इस पद्धति की नकल करने मात्र को, वृंदावन के पुण्य स्थल में भीड़ लगा दी है। (*लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण*)

अभक्तों के प्रभाव से अशुद्ध हुए तीर्थों की शुद्धि हेतु, संतजन यदा कदा वहाँ जाते हैं। सत्य तो यह है कि, संतजनों की उपस्थिति से ही स्थल वास्तव में तीर्थ बनते हैं। यदि कोई व्यक्ति तीर्थ को जाये, एवं वहाँ संतों से जिज्ञासा किए बिना केवल कुछ खरीदारी करे और औपचारिक स्नान करे, तो उसकी यात्रा बेकार है।

जब ऋषि विदुर हस्तिनापुर में कुरुओं के महल में गए, तो युधिष्ठिर महाराज ने इन्हीं शब्दों से उनकी प्रशंसा की जिनका प्रयोग नारद ने यहाँ किया है : *तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि*। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं,

> भगवान् के शुद्ध भक्तगण अपनी क्रियाओं से किसी भी स्थल को तीर्थ-स्थल बना सकते हैं, एवं उन्हीं के कारण तीर्थ-स्थल इस नाम के उपयुक्त हैं। ऐसे शुद्ध भक्तगण किसी भी स्थान के दूषित वातावरण को पवित्र कर सकते हैं, तीर्थ की गरिमा को दांव पर लगाकर व्यावसायिक जीवन बिताने

के प्रयास के इच्छुक व्यक्तियों की संदिग्ध क्रियाओं से अपवित्र हुए तीर्थ का तो कहना ही क्या? (*भागवत* १.१३.१०, तात्पर्य)

ऐसे ही एक लेखांश में, ऋषि भगीरथ ने गंगा नदी तथा उसके जल में स्नान करने वाले संतों की प्रशंसा की, "जब ऐसे शुद्ध भक्तगण तुम्हारे जल में स्नान करते हैं, तो अन्य लोगों से जुटे पाप अवश्य ही निष्क्रिय हो जायेंगे, क्योंकि ऐसे भक्त सदैव अपने हृदयतल में परम पुरुषोत्तम भगवान् को रखते हैं, जो सारे पापों के फलों को नष्ट कर सकते हैं।" (*भागवत* ९.९.६)

यदि अपनी उपस्थिति मात्र से संत इतने प्रभावशाली हैं, तो हम बस कल्पना ही कर सकते हैं कि उनके कृत्य कितने वंदनीय और अनुकरणीय हैं। अधिकतर लोगों के कृत्य *कर्म* में फलीभूत होते हैं, किन्तु महात्माओं के कृत्य *कर्म* को *भक्ति* में परिवर्तित कर देते हैं। शुद्ध भक्त की सेवा करने वाला कोई भी व्यक्ति स्थायी आध्यात्मिक सम्पदा का लाभ प्राप्त करता है, यदि वह इसे अज्ञान में करे, तो भी वह लाभान्वित होता है। (*अज्ञात-सुकृति*)। यद्यपि हम शुद्ध भक्तों के कृत्यों के समतुल्य होने की अपेक्षा नहीं कर सकते, तथापि हमें उनका अनुसरण करने के प्रयास में झिझकना नहीं चाहिए। जैसा श्रील प्रभुपाद कहा करते थे, "मैं जैसा कर रहा हूँ, वैसा करो।"

नारद कहते हैं कि सर्वोत्तम भक्तगण शास्त्रों में भी प्रमाणिकता जोड़ देते हैं। इसका अद्‌भुत उदाहरण *चैतन्य-भागवत* में लिखी चैतन्य महाप्रभु की एक भविष्यवाणी का श्रील प्रभुपाद द्वारा पूर्ण होना है :

पृथिवीते आछे जत नगरादि ग्राम।
सर्वत्र प्रचार हइबे मोर नाम।।

"पृथ्वी के प्रत्येक नगर और ग्राम में, मेरे नाम (कृष्ण के पवित्र नाम) का प्रचार होगा।" यह कथन वैष्णव विद्वानों को उलझन में डाल देता था; कुछ कहते थे कि इसे अलंकारिक भाषा समझना चाहिए। पाश्चात्य देशों के म्लेच्छ लोग कैसे भगवान् कृष्ण और भगवान् चैतन्य की पूजा ग्रहण करेंगे एवं अपने नगरों तथा ग्रामों में *हरे कृष्ण* कीर्तन करेंगे? किन्तु श्रील प्रभुपाद ने संदेहकारियों को गलत प्रमाणित कर दिया : अपने गुरु के आदेश तथा भगवान् चैतन्य महाप्रभु की कृपा से, उन्होंने *हरे कृष्ण* आंदोलन की सृष्टि की, जो शीघ्रता से ऐसा फैलने लगा कि समाचारपत्रों और टिप्पणीकारों को घोषित करना पड़ा : "कृष्ण धुन ने लंदन को चकित किया", एवं "*हरे कृष्ण*" घरेलू शब्द बन गया है"।

श्रील प्रभुपाद द्वारा *भगवद्‌गीता* का प्रचार एक और उदाहरण देता है कि शुद्ध

भक्तगण कैसे शास्त्रों को प्रमाणिकता देते हैं। पाश्चात्य देशों में *भगवद्गीता* के साथ श्रील प्रभुपाद के आने से दो सौ से अधिक वर्ष पूर्व तक, *भगवद्गीता* पाश्चात्य देशों में "हिंदुओं के पुण्य संदेश" के रूप में जानी जाती थी। तथापि *भगवद्गीता* पढ़कर कोई भी भगवान् कृष्ण का भक्त नहीं बना था, यद्यपि भगवान् कृष्ण अपने प्रति शरणागति को *गीता* का लक्ष्य बताते हैं। परन्तु अपने अनुभवी अनुवादों तथा तात्पर्यों के माध्यम से श्रील प्रभुपाद *भगवद्गीता* के श्लोकों में प्राण लाए, और अब विश्वभर में सहस्रों अहिंदु लोग कृष्ण को परम पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में स्वीकार कर रहे हैं तथा उनके निष्ठावान भक्त बन रहे हैं।

नारद अब यह वर्णन करेंगे कि संतजन क्यों इतने शुभ एवं प्रभावशाली होते हैं।

सूत्र ७०

तन्मयाः ॥ ७० ॥

तत्—उनके साथ; **मयाः**—पूर्ण।

अनुवाद

भगवान् के अंतरंग दास उनको प्रेम करने में पूर्णतः निमग्न होते हैं।

तात्पर्य

नारद की परिभाषाएँ हमें पूर्ण समर्पण, प्रेम, तथा भगवान् और उनके भक्त के मध्य रुचि की एकता की झाँकियाँ दिखाती हैं। जब हम किसी अत्युत्तम सूत्र, जैसे कि क्रमांक ४९ अथवा ६७ को पढ़ें तो हम सोच सकते हैं, "अब उन्होंने *भक्ति* की पराकाष्ठा बता दी है : इतने संक्षिप्त एवं उत्तम ढंग से इससे अधिक कुछ कहा नहीं जा सकता।" किन्तु तब नारद *भक्ति-योग* पर और भी अधिक सटीक सूत्रों से हमें हर्षित कर देते हैं।

यह सूत्र क्रमांक ४१ के बहुत समान है : "भगवान् और उनके शुद्ध भक्त अभिन्न होते हैं।" *गुरु-अष्टक* में, श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं, "गुरु को भगवान् जितना ही सम्मान देना चाहिए क्योंकि वे भगवान् के गुह्यतम सेवक होते हैं। यह समस्त प्रामाणिक शास्त्रों में मान्य है तथा समस्त प्रामाणिक आचार्यों

द्वारा पालित है।" यद्यपि *भक्ति* का योग्य विद्यार्थी जानता है कि वैष्णव स्वयं भगवान् नहीं है, तथापि शिष्य भगवान् के समर्पित भक्त के विग्रह में कृष्ण की प्रत्यक्ष उपस्थिति का अनुभव करता है। एवं शिष्य भगवान् के शुद्ध भक्त की सेवा द्वारा भगवान् की सेवा करने में पूर्णतः संतुष्ट होता है। शुद्ध भक्त कृष्ण तक पहुँचने का पारदर्शी माध्यम होता है।

जब सनातन गोस्वामी चैतन्य महाप्रभु से मिले, तो महाप्रभु ने उन्हें बताया, "भगवान् कृष्ण ने तुम्हें जीवन के घोर नरक से बचा लिया।" सनातन ने उत्तर दिया, "मैं नहीं जानता कि कृष्ण कौन हैं। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं केवल आपकी दया से कारागृह से मुक्त हुआ हूँ" (*चै. च. मध्य* २०.६४)। शिष्य की वैष्णव के प्रति कृतज्ञता भक्तिविनोद ठाकुर ने गीत *ओहे! वैष्णव ठाकुर* में भी अभिव्यक्त की है : "कृष्ण तुम्हारे हैं। तुम कृष्ण को मुझे देने में समर्थ हो, क्योंकि तुम्हारी ऐसी ही शक्ति है। मैं तो कंगाल हूँ और 'कृष्ण! कृष्ण!' पुकार कर तुम्हारे पीछे दौड़ रहा हूँ।"

इसीलिए भक्तों के निवास का स्थान *तीर्थ* है और इसीलिए नारद कहते हैं कि भक्तगण तीर्थों की शुद्धि करते एवं शास्त्रों को प्रमाणिकता प्रदान करते हैं—क्योंकि वे *तन्मयाः*, "कृष्ण से परिपूर्ण" हैं।

सूत्र ७१

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति॥ ७१॥

मोदन्ते—प्रमुदित होते हैं; **पितरः**—पितर; **नृत्यन्ति**—नृत्य करते हैं; **देवताः**—देवतागण; **सनाथा**—उत्तम स्वामियों वाली; **च**—और; **इयं**—यह; **भूः**—पृथ्वी; **भवति**—बन जाती है।

अनुवाद

अतएव शुद्ध भक्तों के पितर प्रमुदित होते हैं, देवतागण नृत्य करते हैं, और पृथ्वी उत्तम स्वामियों से संरक्षित अनुभव करती है।

तात्पर्य

एक महान भक्त भगवान् को इतना प्रिय है कि उसके परिवार के सदस्य यदि उसको न भी सराहें तो भी उनको भगवान् का आशीर्वाद मिलता ही है। जब भगवान् नृसिंहदेव ने अपने प्रियतम भक्त, प्रह्लाद, को उसके आसुरी पिता से बचाया तो

प्रह्लाद महाराज ने माँगा कि उसके पिता को क्षमा कर दिया जाये तथा अगले जन्म में उनके जधन्य अपराधों हेतु उन्हें दण्डित न किया जाए। भगवान् नृसिंहदेव ने उत्तर दिया, "मेरे प्रिय, शुद्धतम, महान संत प्रह्लाद, तुम्हारे पिता तुम्हारे परिवार के इक्कीस पुरखों सहित शुद्ध हो गए हैं। चूँकि तुम इस परिवार में जन्मे थे, अतः सम्पूर्ण वंश पवित्र हो गया है। जब भी और जहाँ भी शांत, समभावयुक्त, सुव्यवहारी तथा सर्वगुणाभूषित भक्तगण होते हैं, वह स्थान तथा वहाँ के वंश, गर्हित होने पर भी, पवित्र हो जाते हैं (*भागवत* ७.१०.१८-१९)

चैतन्य महाप्रभु ने भी अपने भक्तों के स्वजनों को विशेष कृपा दी थी। सार्वभौम भट्टाचार्य के जँवाई, अमोघ, ने चैतन्य महाप्रभु की निंदा की थी तथा उसे हैज़े से पीड़ित होना पड़ा था। किन्तु चैतन्य महाप्रभु ने उसे मुक्त कर दिया और कहा, "तुम मेरे स्नेह के पात्र हो क्योंकि तुम सार्वभौम भट्टाचार्य के जँवाई हो। सार्वभौम के घर में, उसके नौकर-चाकर यहाँ तक कि उसके कुत्ते सहित, सभी मुझे अत्यंत प्रिय हैं। फिर उसके स्वजनों का तो कहना ही क्या? (*चै. च. मध्य* १५.२८३-४)। एक शुद्ध भक्त अपने शारीरिक संबंधियों की तुलना में समस्त प्राणियों के परिवार को अपना अधिक आत्मीय मानता है, और तथापि शुद्ध भक्त से दूर का संबंध रखने वाला भी, लाभ पाता है। भक्त का प्रभाव इतना बड़ा है।

फिर नारद कहते हैं *नृत्यन्ति देवताः* "शुद्ध भक्त का आविर्भाव देखकर देवतागण नृत्य करने लग जाते हैं।" देवतागण भगवान् विष्णु के पक्के भक्त हैं, तथा असुरों को नियंत्रण हथियाते देखना उन्हें अत्यंत अप्रिय है। कभी-कभी असुर देवताओं के महलों पर अधिकार कर लेते हैं, जैसा कि हिरण्यकशिपु के शासन में हुआ था। किन्तु शुद्ध भक्त, प्रह्लाद, भगवान् नृसिंहदेव के प्राकट्य के कारण बने। भगवान् नृसिंहदेव ने हिरण्यकशिपु का विनाश कर दिया। हिरण्यकशिपु 'त्रिलोकी के सिरदर्द के समान' था। जब वह भगवान् नृसिंहदेव द्वारा मारा गया, तो देवताओं ने प्रार्थना की, "इस असुर से परेशान होने के कारण जब भक्तों ने इसे दोषित किया, तब वह आपके द्वारा मारा गया" (*भागवत* ७.८.५३)। अतः शुद्ध भक्त का कार्य इतना महत्त्वपूर्ण होता है कि यह सारे ब्रह्माण्ड को प्रभावित करता है तथा भगवत्ता का पलड़ा भारी कर देता है। वैष्णव के आविर्भाव पर देवताओं का हर्ष यह प्रमाणित करता है कि देवतागण भी वैष्णव हैं। वे भौतिक वरदान चाहने वाले अपने उपासकों की तुलना में भगवद्-सेवी शुद्ध भक्त से अधिक प्रसन्न होते हैं।

अंत में नारद कहते है कि शुद्ध भक्त के आविर्भाव से पृथ्वी को भी रक्षक मिल जाता है। कलियुग में पृथ्वी माँ को अनेक प्रकार से त्रासित किया जाता है। जब कलियुग का प्रारंभ हुआ, तो महाराज परीक्षित ने एक शूद्र को गौरूपी पृथ्वी

को मारते हुए पाया। आजकल तेल के लिए पृथ्वी का अनावश्यक खनन किया जाता है; उसे वनों से विहीन, विस्फोट में उड़ाया, रसायनों से प्रदूषित, उपजाऊ ऊपरी मिट्टी से रहित किया जाता है; वह धूर्तों और झूठों से भरी पड़ी है जो असहनीय भार उत्पन्न करते हैं।

पृथ्वी मानव योनि के शोषण हेतु कोई मृत पिंड नहीं है; वह संरक्षण-योग्य प्राणी है। जब पृथ्वी संरक्षित होती है, तो वह सब प्राणियों के लिए पर्याप्त स्थान तथा शांतिपूर्ण व समृद्धिशाली निवास देती है। परन्तु जब मनुष्य पृथ्वी को लूटते हैं, तो वह किसी उदार भक्त से संरक्षण माँगती है। यद्यपि भक्त अधिक शक्ति से रहित एक विनम्र भिक्षुक के रूप में कार्यरत प्रतीत हो सकता है, तथापि उच्चतर जीव तथा वास्तविक विद्वान जीव जानते हैं कि किसी मसीहा का आविर्भाव हुआ है।

भक्त विशेष रूप से मनुष्यों का रक्षक होता है। भक्त द्वारा उनके पुनर्गठन के प्रयासों के बिना उनमें से अधिकतर अपने अगले जीवनों में निम्न योनियों में गिर गए होते। काल, स्थान और पात्र के अनुसार, प्रत्येक शुद्ध-भक्त रक्षक एक ही संदेश की शिक्षा देता है : "इस जड़ जगत में सड़ो मत; भगवद्-उक्तियों का अनुगमन करो, और बचो।" संसार अब भी ईसामसीह, भगवान् बुद्ध और भगवान् चैतन्य महाप्रभु सदृश रक्षकों की पूजा करता है। मानवजाति को बचाने हेतु अनेक अन्य शुद्ध भक्त भगवद्-पुत्र अथवा *शक्त्यावेशावतार* के रूप में आविर्भावित होते रहते हैं। शुद्ध भक्त की उपस्थिति के दूरगामी शुभ प्रभावों का विचार करके, जो अधिकतर साधारण समझ से परे होते हैं, हम इस बात की बेहतर सराहना कर सकते हैं कि श्रील प्रभुपाद ने क्यों कहा था कि "यदि केवल एक व्यक्ति भगवान् का शुद्ध भक्त बन जाए, तो हम अपने प्रयास को सफल हुआ समझेंगे।"

सूत्र ७२

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः ॥ ७२ ॥

नास्ति—नहीं है; **तेषु**—उनमें; **जाति**—जाति; **विद्या**—विद्या; **रूप**—रूप; **कुल**—कुल; **धन**—धन; **क्रिया**—व्यवसाय; **आदि**—आदि; **भेदः**—भेद।

अनुवाद

ऐसे शुद्ध भक्तों में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और व्यवसायादि के भेद नहीं होते।

तात्पर्य

परम पुरुषोत्तम भगवान्, श्रीकृष्ण, जन्म, धनादि के आधार पर भक्तों में भेद नहीं करते, तो हम क्यों करें? कृष्ण कहते हैं, "हे पृथापुत्र! जो मेरा आश्रय लेते हैं, भले ही वे निम्न जन्म—स्त्री, वैश्य और शूद्र—वाले हों वे परम गन्तव्य प्राप्त करते हैं" (*भ.गी.* ९.३२)। और *पद्म पुराण* के अनुसार, "कोई भी व्यक्ति जो विष्णु के विग्रह को साधारण पत्थर समझे अथवा गुरु को साधारण मनुष्य समझे, अथवा वैष्णव को विशिष्ट परिवार या देश से संबंधित समझे, वह नरक का निवासी है।"

अपने *उपदेशामृत* (६) में, रूप गोस्वामी भी हमको चेतावनी देते हैं कि हम भक्तों को भौतिक दृष्टिकोण से न देखें : "अपनी मूल कृष्णभावनाभावित स्थिति में रहते हुए शुद्ध भक्त अपने को शरीर नहीं मानता है। ऐसे भक्त को भौतिकतावादी दृष्टिकोण से नहीं देखा जाना चाहिए। निस्सन्देह, भक्त के निम्नकुल में जन्म लेने, उसके कुरूप चेहरे, विकृत शरीर या रोगी अथवा अशक्त शरीर की परवाह नहीं करनी चाहिए। साधारण दृष्टि से ऐसे दोष शुद्ध भक्त के शरीर में प्रकट दिख सकते है, परन्तु इन सब दोषों के बावजूद शुद्ध भक्त का शरीर कभी दूषित नहीं हो सकता। वह उस गंगाजल के समान है जो कभी-कभी वर्षाऋतु में बुदबुद, झाग तथा कीचड़ से भर जाता है, किन्तु कभी दूषित नहीं होता। अतएव जो लोग आध्यात्मिक ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं वे जल की अवस्था का विचार किए बिना गंगा में स्नान करते हैं।"

श्रील प्रभुपाद कहते हैं कि व्यक्ति को यह नहीं सोचना चाहिए कि, "ओह, यहाँ एक अमरीकन गोस्वामी है," और इस आधार पर उसके प्रति भेद नहीं करना चाहिए। दूसरी ओर, प्रभुपाद की कृपा से कृष्णभावनामृत में आने वाले पश्चिमी युवकों को अहंकारवश अपने को भारतीय ब्राह्मणों से बेहतर नहीं समझना चाहिए। शास्त्र कहते हैं, *कलौ शूद्र-संभवः* "कलियुग में, हर कोई शूद्र के रूप में जन्म लेता है।" हम कृष्णभावनामृत पद्धति के द्वारा उच्चावस्थित हैं, परन्तु हमारे पास निज-श्रेय पर अहंकार करने हेतु कुछ नहीं है : यह सब भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्त के कारण है। श्रील हरिदास ठाकुर ने उदाहरण स्थापित किया : सबसे उच्चावस्थित अध्यात्मवादी बनने के पश्चात् भी उन्होंने अपने को उत्तम व्यक्ति घोषित नहीं किया अपितु नीच कुल में जन्मा व्यक्ति बने रहने की इच्छा की। अध्यात्मवादी बनने के

नाम पर, व्यक्ति को फिर से मिथ्या अभिमान द्वारा विजित नहीं हो जाना चाहिए।

भक्ति की परिवर्तनकारी शक्ति से अनभिज्ञ व्यक्ति ही भौतिक उपाधियों के आधार पर भक्तों के प्रति भेद करता है। प्रभुपाद लिखते हैं, "अतः मनुष्य को किसी शुद्ध भक्त को बाह्य रूप से देखने से बचना चाहिए, किन्तु उसके आन्तरिक पक्षों को देखने का प्रयास करना चाहिए और समझना चाहिए कि वह भगवान् की दिव्य प्रेमपूर्ण सेवा में कैसे संलग्न है।" (*उपदेशामृत,* श्लोक ६, तात्पर्य)

भगवान् कपिल के प्रति अपनी प्रार्थनाओं में देवहूति ने समर्थित किया कि भगवान् के पुण्य नामों में किसी को भी बदलने की दिव्य शक्ति है : "ओह! तुम्हारे पुण्य नाम का उच्चारण करने वाली जिह्वाएँ कितनी धन्य हैं! चाण्डालों के परिवारों में जन्मे हों, तो भी ऐसे व्यक्ति वन्दनीय हैं।" (*भागवत* ३.३३.७)

सूत्र ७३

यतस्तदीयाः ॥ ७३ ॥

यतः—क्योंकि; **तदीयाः**—उनका।

अनुवाद

शुद्ध भक्तों में कुलादि बाह्य विचारों का भेद नहीं होता क्योंकि वे भगवान् के अपने होते हैं।

तात्पर्य

यहाँ नारद वर्णन करते हैं कि किसी व्यक्ति को कृष्ण के भक्तों के प्रति जाति-भावनाभावित रूढ़ी से क्यों बचना चाहिए : क्योंकि सभी भक्तगण की एक ही श्रेणी होती है—— वे सभी भगवान् के अपने होते हैं। और क्योंकि वे भगवान् के अपने होते हैं (*तदीयाः*), भक्तगण वन्दनीय हैं।

आराधनानां सर्वेषां विष्णोर आराधनं परम्।
तस्मात् परतरं देवी तदीयानां समार्चनम्॥

"सब प्रकार की आराधनाओं में, विष्णु की आराधना परम है, और विष्णु की आराधना से भी श्रेयस्कर उनके भक्त, वैष्णव, की आराधना होती है।" (*पद्म पुराण*)

तदीया का अर्थ है, "उनके संबंध में।" भक्तगण अंतरंग रूप में भगवान् से संबंधित होते हैं क्योंकि वे उनकी अंतरंगा शक्ति के आश्रय में होते हैं। अतः वे

सदैव उनके साथ रहते हैं तथा उनके वाहन गरुड़, उनके आसन अनंत शेष, उनकी गायों, उनके गोप-गोपियों, इत्यादि के रूप में उनकी सेवा करते हैं।

सामान्य अर्थ में, *समस्त* प्राणी कृष्ण के अविच्छिन्न अंश हैं – "मेरे सनातन अंश," कृष्ण कहते हैं——और वह एक और कारण है कि व्यक्ति को भौतिक मापदण्डों से ऊँचा या नीचा क्यों निर्धारित नहीं करना चाहिए। किन्तु यद्यपि सारे जीव भगवान् कृष्ण को प्रिय हैं, तथापि वे केवल भक्तों के ही प्रिय हैं, और इसलिए वे भगवान् का विशेष ध्यान पाते हैं। जैसा भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.२९) में कहा है,

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

"मैं किसी से द्वेष नहीं करता, और न ही मैं किसी का पक्षपाती हूँ। मैं सबके प्रति समान हूँ। परन्तु जो भी व्यक्ति मेरी सेवा करता है वह मित्र है—मुझमें है—और मैं भी उसका मित्र हूँ।"

जगन्नाथ पुरी में सनातन गोस्वामी तथा हरिदास ठाकुर के साथ बातचीत के मध्य, चैतन्य महाप्रभु ने एक बार प्रस्तुत सूत्र में अभिव्यक्त सत्य की विस्तृत व्याख्या की थी। सनातन को चर्म-रोग लग गया था जिसमें पीप बहते हुए फोड़े निकलते थे। विनम्रता में उन्होंने अपनी देह को भक्तिमय सेवा हेतु बेकार समझा, तथा उन्होंने भगवान् जगन्नाथ के रथ के पहिए के नीचे आत्महत्या करने का निर्णय ले लिया। किन्तु चैतन्य महाप्रभु ने उनका मन पढ़ लिया और उन्हें ऐसा करने से यह कहकर रोका कि उन्होंने तो पहले ही अपनी देह को भगवान् की सेवा में समर्पित कर दिया था। चैतन्य महाप्रभु सनातन का आलिंगन किया करते थे, और इससे सनातन घोर सन्ताप का अनुभव करते थे क्योंकि उनके बहते फोड़े महाप्रभु के शरीर का स्पर्श करते थे। और इसलिए सनातन ने जगन्नाथ पुरी छोड़ने का निश्चय कर लिया। किन्तु चैतन्य महाप्रभु ने बताया कि वे सनातन के शरीर से रुष्ट नहीं थे; अपितु, उन्हें सनातन का आलिंगन करते हुए अत्यंत आनंद का अनुभव होता था क्योंकि वे सनातन के शरीर को दिव्य रूप में देखते थे। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने *भगवद्गीता* (५.१८) को उद्धृत किया :

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

"विनम्र ऋषिगण, वास्तविक ज्ञान के कारण, विद्या-विनय-संपन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते तथा चांडाल को समदृष्टि से देखते हैं।"

इस उद्धृति को सुनकर, हरिदास ने कहा, "आपने जो कहा है वह बाह्य

औपचारिकताओं से संबंधित है।" चैतन्य महाप्रभु ने तब अपने भक्तों के प्रति अपने प्रेम से संबंधित अपने आंतरिक विचारों का प्रकाश किया :

> मेरे प्रिय हरिदास और सनातन, मैं तुम्हें अपने द्वारा पोषित योग्य छोटे बालकों जैसा समझता हूँ। संरक्षक कभी भी अपने रक्षित की त्रुटियों को गम्भीरता से नहीं लेता... जब बालक मल-मूत्र त्याग करता है जो मां के शरीर से छूता है, तो भी मां बालक से कभी घृणा नहीं करती। इसके विपरीत, वह उसको साफ करने में आनंद लेती है। बालक का मल-मूत्र मां को चंदन-लेप के समान प्रतीत होता है। इसी प्रकार, जब सनातन के फोड़ों से बहता पीप मेरे शरीर का स्पर्श करता है, तो मुझे उसके प्रति कोई घृणा नहीं होती। (*चै.च. अन्त्य* ४.१८४-७)

चैतन्य महाप्रभु ने तदुपरांत भक्तिमय सेवा की महिमा की और व्याख्या की और बताया कि वह कैसे एक भक्त के शरीर को आध्यात्मिक अस्तित्व में परिवर्तित कर देती है।

उपसंहारस्वरूप, शुद्ध भक्त का शरीर कभी भी भौतिक नहीं होता। यदि वह ऐसा प्रतीत भी हो, तो कृष्ण फिर भी भक्त को प्रिय स्वीकार करते हैं तथा उसे अपना जानकर उसका आलिंगन करते हैं। भगवान् की कृपा से भक्त अध्यात्म-मय हो जाता है, एवं अपने दिव्य शरीर में भगवान् के चरणकमलों की सेवा करता है।

अध्याय ५

सिद्धि की प्राप्ति

सूत्र ७४

वादोः नावलम्ब्यः ॥ ७४ ॥

वादः—वाद-विवाद; **न**—नहीं; **अवलम्ब्यः**—अवलम्बन नहीं करना चाहिए।

अनुवाद

व्यक्ति को तर्कपूर्ण वाद-विवाद में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए।

तात्पर्य

नारद अहंकारी तर्क-वितर्क की प्रवृत्ति को हतोत्साहित करते हैं। अपनी बहस की कला का अभिमान करने वाला तथा दूसरों को हराने का उत्सुक व्यक्ति अपनी विनम्रता खो देगा। सूत्र २७ में नारद के कथनानुसार विनम्रता कृष्ण को प्रसन्न करने हेतु आवश्यक है। भगवान् का अस्तित्व तार्किक बुद्धियों के युद्ध द्वारा प्रमाणित या अप्रमाणित करने की वस्तु नहीं। आध्यात्मिक वास्तविकता को भौतिक तर्क या भौतिक मन के चिंतनों से नहीं समझा जा सकता। जैसा *वेदांत सूत्र* (२.१.११) घोषित करता है, तर्काप्रतिष्ठानात् : "तर्क-वितर्क से कोई निष्कर्ष नहीं निकलता।"

फिर भी, जब कोई कृष्णभावनामृत प्रचारक भगवान् या वैष्णवों का निंदा से बचाव करता है, तो उसे मिथ्या विवाद नहीं समझना चाहिए। भक्त अपने लिए नहीं, किन्तु कृष्ण के लिए तर्क करता है। और, भक्त का प्रचार भी मनोधर्मी चिंतन पर, जो कि सदैव अपूर्ण होता है, आधारित नहीं होता, अपितु शास्त्र तथा आचार्यों से ज्ञानप्राप्ति की पूर्ण पद्धति पर आधारित होता है। जैसा कि कहा गया है, "प्रमाणिक ऋषियों के वक्तव्यों में त्रुटियाँ, भ्रम, धोखा और दोषपूर्ण अनुभव नहीं होते" (*चै.च. आदि* २.८६)। सब वैष्णव आचार्यों ने भी मायावाद टीकाओं के विरोध में तर्क

दिए हैं। इस प्रकार के तर्क से बचना नहीं चाहिए, अपितु यह तो *मध्यम-भक्त,* या प्रचारक के कर्तव्यों में से एक है। कृष्णदास कविराज कहते हैं, "निष्ठावान विद्यार्थी को इन सिद्धांतों (कृष्णभावनामृत के दर्शन से संबद्ध) की चर्चा को विवादास्पद समझकर उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ऐसी चर्चा मन को दृढ़ करती है। अतएव व्यक्ति का मन कृष्ण के प्रति आसक्त हो जाता है (*चै.च. आदि* २.११७)

किन्तु कभी कभी प्रचारक यदि देखे कि प्रतिपक्षी केवल तर्क के लिए ही तर्क करना चाहता है तो वह लड़ाई से बचता है। रूप गोस्वामी ने एक बार उनको परास्त करने आए एक धूर्त से शास्त्रार्थ करना अस्वीकार कर दिया था, किन्तु फिर रूप के भतीजे, जीव गोस्वामी, ने निमंत्रण स्वीकार किया। अतः भक्त नास्तिकों तथा शून्यवादियों की चुनौती को, परिस्थितियों पर निर्भर करते हुए, स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है, किन्तु किसी भी स्थिति में वह जानता है कि शास्त्रार्थ तथा चुनौती भगवान् के सच्चे ज्ञान तक नहीं पहुँचाते।

शास्त्रों अथवा आचार्यों के निकट जाते हुए, निश्चय ही, स्वयं भक्त की चुनौतीपूर्ण प्रवृत्ति नहीं होती। वह उनको बहस से परे सूत्रों के रूप में स्वीकार करता है। अपने निजी संशयों के निवारण की सर्वोत्तम विधि है उन उन्नत वैष्णवों से विनम्रतापूर्वक जिज्ञासा करना जो शास्त्र और तर्क के आधार पर उत्तर देने में सदैव समर्थ होंगे।

सूत्र ७५

बाहुल्यावकाशत्वादनियतत्वाच्च ॥ ७५ ॥

बाहुल्य—अत्यधिक होने के लिए; **अवकाशत्वात्**—अवसरों के कारण; **अनियतत्वात्**—निर्णयकारी न होने के कारण; **च**—और।

अनुवाद

ऐसा तर्क-वितर्क अत्यधिक उलझनों में फंसाता है तथा कभी निर्णयकारी नहीं होता।

तात्पर्य

महाभारत में, युधिष्ठिर महाराज तर्क-वितर्क के दोष की इस प्रकार व्याख्या करते हैं : *तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नासाव् ऋषिर्यस्य मतं न भिन्नम्।* "शुष्क

तर्कों से सत्य की स्थापना नहीं होती। वह महान् व्यक्ति ऋषि नहीं समझा जाता जिसका मत दूसरों से भिन्न न हो। विभिन्न वेदों के अध्ययन मात्र से, व्यक्ति उस सही पथ पर नहीं आ सकता जिसके द्वारा धार्मिक सिद्धान्तों का ज्ञान हो।" (*महाभारत, वन पर्व ३१३. ११७*)

यदि आप अपने दार्शनिक निर्णयों को तर्कों पर आधारित करें, तो एक बेहतर तर्कवान अंततः आपको हरा देगा। यह पाश्चात्य दार्शनिकों की विधि है, और भारत के अपने *मुनि* हैं। किसी मुनि को तब तक विख्यात नहीं माना जाता जब तक वह पिछले विचारकों के तर्कों को पराजित नहीं कर देता। किन्तु तब एक अन्य मुनि आता है तथा वर्तमान विजेता के तर्कों में दोष निकालकर उनको "नवीनतम दर्शन" से बदलने का दावा करता है। तर्क-वितर्क के अध्ययनकारी इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि कोई अंतिम सत्य नहीं है। यह संशयवाद है, मनोधर्मी चिंतन का फल!

न्यायिकों की लम्बी, अनिर्णयकारी स्पर्धाओं में भक्त को भाग नहीं लेना चाहिए। स्मृति-अतीत समय से वैदिक सत्यों का पूर्णरूप से शोध हुआ है तथा उनकी सैद्धांतिक स्थापना हो चुकी है। वैदिक संस्कृति के भाग्य का मार्गदर्शन करने वाले आचार्यों, जैसे मध्व, रामानुज और चैतन्य महाप्रभु ने वैदिक सिद्धांत का आविष्कार नहीं किया, यद्यपि उन सबने स्थान, काल और पात्र के अनुसार उसका प्रकाश किया।

महाराज युधिष्ठिर आगे कहते हैं : *धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां महाजनों येन गतः स पन्थाः।*

"धर्म का तत्व विशुद्ध आत्म-ज्ञानी व्यक्ति के हृदय में छिपा होता है। परिणामस्वरूप, जैसा शास्त्र सुनिश्चित करते हैं, व्यक्ति को महाजनों द्वारा प्रवर्तित विकासशील पथ को ही स्वीकार करना चाहिए।"

सत्य को ग्रहण करने की भक्ति-विधि है—परंपरा। यह गुरु शास्त्र और साधु से श्रवण द्वारा सुनिश्चित की जाती है। दूसरी ओर, जो परम्परा पद्धति को ठुकरा देता है तथा तर्क-वितर्क सुनने का आग्रही होता है वह परम सत्य को कभी नहीं समझ सकता। जैसा भगवान् कृष्ण कहते हैं, भक्त्या माम् अभिजानातिः "मुझे केवल भक्तिमय सेवा द्वारा ही जाना जा सकता है।" (*भ.गी. १८.५५*)

जब चैतन्य महाप्रभु सर्वप्रथम जगन्नाथ पुरी आए, तो उनके अनुयायियों एवं सार्वभौम भट्टाचार्य के बीच एक विवाद छिड़ गया। भट्टाचार्य उस समय एक भौतिक तार्किक थे। गोपीनाथ आचार्य द्वारा वैदिक शास्त्रों का अपार प्रमाण प्रस्तुत करने पर भी भट्टाचार्य तथा उनके विद्यार्थियों ने चैतन्य महाप्रभु को परम पुरुषोत्तम भगवान् मानना अस्वीकार कर दिया। अंततः भट्टाचार्य के शिष्यों ने कहा, "हम

तार्किक विश्लेषण द्वारा परम सत्य का ज्ञान प्राप्त करते हैं।" गोपीनाथ आचार्य ने उत्तर दिया, "ऐसे तार्किक विश्लेषण और बहस द्वारा परम पुरुषोत्तम भगवान् का वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता" (*चै. च. मध्य* ६.८१)। गोपीनाथ आचार्य ने आगे कहा कि भक्तिमय सेवा द्वारा भगवान् की कृपा को प्राप्त हुआ व्यक्ति ही उनको जान सकता है। तार्किक विश्लेषण कोई पन्थ नहीं। *शब्द ब्रह्म,* अर्थात अधिकृत सूत्रों से श्रवण, ही पन्थ है। ब्रह्मा जी ने भी *श्रीमद्भागवतम्* के दसवें स्कन्ध के चौदहवें अध्याय में भगवान् कृष्ण के प्रति अपनी प्रार्थानाओं में यही तथ्य उजागर किया है :

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय -
प्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्वं भगवन्महिम्नो
न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्।।

"मेरे प्रभु! आपके पदाम्बुजों की कृपा के लेशमात्र से भी अनुगृहीत होने वाला व्यक्ति आपके व्यक्तित्व की महिमा समझ सकता है। किन्तु परम पुरुषोत्तम भगवान् को समझने हेतु शुष्क चिंतन करने वाले लोग, भले ही वे अनेक वर्षों तक वेदों का अध्ययन करते रहे हों, आपको जानने में असमर्थ होते हैं।" (*भागवत्* १०.१४.२९)

मिथ्या विवाद के अंतर्गत गप्प और अफवाह (*प्रजल्प*) भी आ सकते हैं। नारद ने पहले कहा था कि स्त्री, धन व नास्तिकों की चर्चा करने वाले लोगों से भक्त को श्रवण नहीं करना चाहिए (सूत्र ६३)। धार्मिक आंदोलन के सदस्यों को भी अपनी बातचीत में सावधान रहना चाहिए, नहीं तो वे भी अभक्तों के समान कर्कश और फालतू बात करने वालों का समुदाय बन जायेंगे। हमको महत्त्वपूर्ण प्रसंगों पर दायित्वपूर्ण चर्चा तथा फालतू चर्चा में भेद करना चाहिए। यदि हम विवादास्पद विषयों को छेड़ें, तो संयम के साथ, गुरु, शास्त्र एवं साधु के अनुसार वैष्णव सिद्धांत का निष्ठापूर्ण अन्वेषण करते हुए ही हमें ऐसा करना चाहिए। शास्त्रों का शोध हमें केवल अपने मतों के शस्त्र के रूप में नहीं करना चाहिए। जब हम प्रतिद्वन्द्वी को हराने की अहंकारी उमंग में विवाद में घुसते हैं, तो हम लक्ष्य खो बैठते हैं तथा वैष्णवों से लड़ाई करने लग जाते हैं। दक्ष द्वारा भगवान् विष्णु को अर्पित, *हंस-गुह्य* नामक प्रार्थना में, दक्ष ने निर्णीत किया कि तार्किक विवाद की विधि वास्तव में भ्रम का उत्पादन है :

मैं उन परम पुरुषोत्तम भगवान् को सादर दण्डवत प्रणाम अर्पित करता हूँ, जो अनंत-गुण-संपन्न हैं तथा जिनकी विभिन्न शक्तियाँ विवादियों के मध्य सहमति और असहमति लाती हैं। अतएव भ्रामक शक्ति दोनों प्रतिद्वन्द्वियों के आत्म-ज्ञान

को बारम्बार आवृत करती है। (*भागवत* ६.४.३१)

सूत्र ७६

भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तद्बोधककर्माणि करणीयानि।। ७६।।

भक्ति—भक्तिमय सेवा का; **शास्त्राणि**—शास्त्र; **मननीयानि**—सम्मान होना चाहिए; **तत्**—उनके द्वारा; **बोधक**—बोध हुआ; **कर्माणि**—निर्धारित क्रियाएँ; **करणीयानि**—करणीय हैं।

अनुवाद

व्यक्ति को भक्तिमय सेवा के शास्त्रों का सम्मान करना चाहिए तथा उनके द्वारा निर्धारित कर्तव्यों का सम्पादन करना चाहिए।

तात्पर्य

सबसे महत्त्वपूर्ण भक्ति-शास्त्र कृष्णकृपाश्रीमूर्ति अभय-चरणारविन्द भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद द्वारा परंपरा-तात्पर्य सहित अनूदित हो चुके हैं। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "अतः हमने अपने कृष्णभावनामृत आंदोलन में वैदिक साहित्य के अपने अध्ययन को *भगवद्गीता, श्रीमद्भागवतम्, चैतन्य-चरितामृत, और भक्तिरसामृतसिन्धु* तक सीमित कर दिया है। प्रचार उद्देश्यों हेतु ये चार ग्रंथ पर्याप्त हैं। दर्शन को समझने तथा विश्वभर में प्रवर्तन गतिविधियाँ फैलाने हेतु ये पर्याप्त हैं।" (*चै.च. मध्य* २२.११८, तात्पर्य)

वेद विस्तृत हैं। उनमें सहस्रों संस्कृत श्लोक हैं। और जबकि वैदिक साहित्य की सभी शाखाओं का निर्णय परम पुरुषोत्तम भगवान् की भक्तिमय सेवा करना है, तथापि वैदिक साहित्य के कुछ अंश भौतिकतावादी धर्मवादियों को सम्बोधित हैं और इसलिए उत्थान की आनुक्रमिक पद्धति सिखाते हैं। अतः नैमिषारण्य के ऋषियों ने सूत गोस्वामी से उन्हें *वेदों* का सारांश सिखाने का आग्रह किया। कलियुग में अधिकांश लोगों के पास सभी *वेदों* के अध्ययन हेतु समय, शक्ति, या रुचि नहीं है, और न ही इसके प्रयास का परामर्श दिया जाता है। सूत गोस्वामी द्वारा चुना गया सारांश *श्रीमद्भागवतम्* है, जो *भक्ति-योग* को परम धर्म के रूप में सिखाता है तथा सारे "कैतव धर्म" का बहिष्कार करता है। अंधकार के युग में दिव्य प्रकाश लाने हेतु *वेदों* के संग्रहकर्ता, श्रील व्यासदेव, ने अपने परिपक्व योगदान के रूप में संसार

को *श्रीमद्भागवतम्* दिया :

अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगमधोक्षजे।
लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्॥

"प्राणी के भौतिक क्लेशों का, जो उसके लिए अनावश्यक हैं, भक्तिमय सेवा की योग पद्धति से प्रत्यक्ष शमन किया जा सकता है। किन्तु अधिकतर लोग इसे नहीं जानते, और इसलिए विद्वान व्यासदेव ने इस वैदिक साहित्य का संग्रह किया, जो परम सत्य से संबंधित है।" (*भागवत* १.७.६)

श्रीमद्भागवतम्, *भगवद्गीता* इत्यादि के सिद्धांतों का अनुसरण करते हुए लिखे गए समकालीन ग्रंथ भी *भक्ति-शास्त्रों* के अंतर्गत हैं। टीकाओं तथा अन्य भक्ति-साहित्य ग्रंथों का लेखन हर युग में लोगों की सुशिक्षा हेतु चलता रहना चाहिए एवं भौतिक व संशयात्मक पुस्तकों से दूर एक आंदोलन बनाना चाहिए।

नारद कहते हैं कि व्यक्ति को भक्ति-शास्त्रों का अध्ययन मात्र नहीं करना चाहिए, अपितु उनके निर्देशानुसार जीवन बिताना चाहिए। एक गम्भीर विद्यार्थी को गुरु तथा भक्ति-शास्त्रों से श्रवण किए गए तत्वानुसार सेवा करनी चाहिए। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "ऐसे साहित्यों का श्रवण किए बिना, व्यक्ति वास्तविक प्रगति नहीं कर सकता। एवं श्रवण तथा निर्देश-पालन के बिना, भक्तिमय सेवा का प्रदर्शन मूल्यविहीन और इसलिए भक्तिमय सेवा के पथ पर एक प्रकार का विघ्न बन जाता है। अतएव, भक्तिमय सेवा श्रुति, स्मृति, पुराण और पंचरात्र प्रमाणों के सिद्धांतों पर स्थापित है। भक्तिमय सेवा के ढोंग का तुरंत बहिष्कार कर देना चाहिए।" (*भागवत* १.२.१२, तात्पर्य)

सूत्र ७७

सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्षमाणे
क्षणार्धमपि व्यर्थं न नेयम्॥७७॥

सुखदुःख—सुखदुख; **इच्छा**—इच्छा; **लाभ**—लाभ; **आदि**—आदि; **त्यक्ते**—त्याग कर; **काले**—काल; **प्रतीक्षमाणे**—प्रतीक्षा करते हुए; **क्षण**—क्षणभर को; **अर्ध**—आधा; **अपि**—भी; **व्यर्थं**—व्यर्थ; **न नेयम्**—नहीं गँवाना चाहिए।

अनुवाद

भौतिक सुख, दुख, इच्छा और मिथ्या लाभ का त्याग कर पाने के समय तक धैर्यपूर्वक सहते हुए, व्यक्ति को आधा क्षण भी नष्ट नहीं करना चाहिए।

तात्पर्य

मानव जन्म दुर्लभ है और जीवन की आयु अल्प है। मानव जीवन इतना मूल्यवान क्यों है? क्योंकि हम इसका आत्म-ज्ञान हेतु उपयोग कर सकते हैं तथा जन्म और मृत्यु से मुक्त हो सकते हैं। किन्तु, जैसा इस सूत्र का अभिप्राय है, हमारे मानव जीवनकाल का अधिकांश समय अस्तित्व हेतु संघर्ष में बीत जाता है। कृष्णभावनामृत की अत्यावश्यकता पर अपने गुरुकुल के किशोर साथियों को निर्देशित करते हुए, प्रह्लाद महाराज ने गणना की कि मानव जीवन कैसे नष्ट हो जाता है :

> प्रत्येक मनुष्य की अधिकतम आयु एक सौ वर्ष होती है, परन्तु अपनी इंद्रियों पर नियंत्रण न रख पाने वाले व्यक्ति के लिए, उसमें से आधे वर्ष पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं क्योंकि वह तमोगुण से आवृत्त होकर रात में बारह घंटे सोता है। अतः ऐसे व्यक्ति की आयु केवल पचास वर्ष होती है।
>
> कोमल बाल्यावस्था में, जब सभी विमोहित रहते हैं, व्यक्ति दस वर्ष बिता देता है। इसी प्रकार किशोरावस्था में खेलते-कूदते वह दस वर्ष और बिताता है। ऐसे बीस वर्ष नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार, वृद्धावस्था में, जब व्यक्ति असक्षम, भौतिक क्रियाएँ करने में भी असमर्थ हो जाता है, तो वह बीस वर्ष और व्यर्थ बिताता है।
>
> अनियंत्रित मन तथा इंद्रियों वाला व्यक्ति अतृप्तिकारक कामेच्छाओं एवं प्रबल भ्रम के कारण परिवार से अधिकाधिक आसक्त हो जाता है। ऐसे प्रमत्त व्यक्ति के जीवन में, शेष वर्ष भी नष्ट हो जाते हैं क्योंकि उन वर्षों में भी वह स्वयं को भक्तिमय सेवा में प्रवृत्त नहीं कर पाता। (*भागवत* ७.६.६-८)

जब भी हम समय का अपव्यय करते हैं, तो वह एक असुधार्य हानि है। जैसा चाणक्य पंडित कहते हैं, एक धनी व्यक्ति का सारा स्वर्ण भी समय के एक क्षण को वापस नहीं खरीद सकता।

भक्त अपने समय का सदुपयोग करता है, और यह उसकी प्रगति के लक्षणों में से एक होता है। श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "वह भगवान् की भक्तिमय सेवा में

अपने समय का सदुपयोग करने को सदैव आतुर रहता है। वह खाली रहना पसंद नहीं करता। वह बिना भ्रांत हुए, दिन के चौबीसों घंटे, सदैव सेवा चाहता है।" (*भक्तिरसामृतसिन्धु*)

हम कृष्ण का स्मरण आरंभ करने में अपने अनेक कर्त्तव्यों को पूर्ण करने के बाद तक प्रतीक्षा नहीं कर सकते। यदि हम भक्ति को इतनी निम्न प्राथमिकता देंगे, तो हमारी साधना कभी भी एक औपचारिकता से अधिक नहीं होगी जो हमारे असली कार्य से बचाये हुए समय में एक त्वरित प्रार्थना के समान है अथवा मन्दिर में सप्ताह में एक बार औपचारिक रूप में जाने जैसा है। अपितु, जैसा नारद ने कहा है, "इस जगत के जीवन की सामान्य क्रियाओं में संलग्न रहते हुए भी भगवान् के विशेष गुणों के श्रवण तथा कीर्तन द्वारा भक्ति की प्राप्ति होती है" (*नारद-भक्ति-सूत्र* ३७)। हमें *भगवद्गीता* (८.७) में भगवान् कृष्ण के परामर्श का स्मरण रखना चाहिए : "मेरा स्मरण करो और युद्ध करो।"

विमोहित व्यक्ति कहता है, "जब मैं वृद्ध हो जाऊँगा, तो मैं जीवन के संघर्ष में कम लगा होऊँगा। *तब* मैं कृष्णभावनामृत ग्रहण करूँगा।" किन्तु हम बुढ़ापे के आने से पूर्व ही मर सकते हैं, अथवा उस समय हम अत्यधिक दुर्बल हो सकते हैं। जैसे राजा कुलशेखर प्रार्थना करते हैं (*मुकुन्द-माला-स्तोत्र* ४०) :

कृष्ण त्वदीयपदपङ्कजपञ्जरान्तम्
अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः
कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते॥

"हे प्रभु! अपने चरणों के कमल पुष्प की टहनियों के जाल में मेरे मन के राजहंस को इसी क्षण प्रवेश कर जाने दो। मृत्यु के समय जब कफ, वायु और पित्त से मेरा कण्ठ अवरुद्ध हो जायेगा तो मेरे लिये तुम्हारा स्मरण करना कैसे संभव हो पायेगा?"

नारद परामर्श देते हैं कि व्यक्ति को "धैर्यपूर्वक सहना चाहिए।" यह भक्त के लिए परामर्श है। उसे भगवद्-धाम लौटने के लक्ष्य के साथ स्वयं को कृष्णभावनामृत में पूर्णतः संलग्न रखना चाहिए, और इस अन्तराल में उसे जीवन के द्वन्द्वों को सहना चाहिए जैसा भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को परामर्श दिया था, "हे कुन्तीपुत्र, सुख-दुख का अस्थायी प्राकट्य तथा कालान्तर में उनका अप्राकट्य, शीत और ग्रीष्म ऋतुओं के प्राकट्य और अप्राकट्य के समान है। हे भरतश्रेष्ठ, वह इंद्रिय-अनुभव से उत्पन्न होता है, और व्यक्ति को उद्वेगित न होकर उन्हें सहना सीखना चाहिए" (*भ.गी.* २.१४)। "धैर्यपूर्वक सहो" का अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति दार्शनिक रूप से

जीवन के द्वन्द्वों को सहे और कृष्णभावनामृत में पूर्णतः संलग्न न हो! भक्त अपने सब दिन और क्षण पूर्ण-हृदय से भक्तिमय सेवा में नियोजित करता है, किन्तु फिर भी उसे भौतिक उतार-चढावों पर सन्तुष्ट रहना पड़ता है। अतः इन अटल परिवर्तनों के सामने, उसे धैर्यपूर्वक सहना चाहिए तथा हरे कृष्ण जप/कीर्तन करते रहना चाहिए।

सूत्र ७८

अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादिचारित्र्याणि परिपालनीयानि॥ ७८॥

अहिंसा—अहिंसा का; **सत्य**—सत्यता; **शौच**—शौच, **दया**—दया; **आस्तिक्य**—श्रद्धा; **आदि**—आदि, **चारित्र्याणि**—लक्षण; **परिपालनीयानि**—परिपालन करना चाहिए।

अनुवाद

व्यक्ति को अहिंसा, सत्य, शौच, दया और श्रद्धा जैसे सद्गुणों का परिपालन करना चाहिए।

तात्पर्य

भक्ति-सूत्रों में सर्वत्र, नारद ने सर्वोत्तम अर्थात् परम, की शिक्षा दी है। उन्होंने कभी भक्ति की मध्यम परिभाषाएँ नहीं दीं, परन्तु उनके अपने अनुभवों से तथा अन्य वैष्णवों द्वारा उन्होंने *परा भक्ति* सिखाई है। इसी प्रकार, श्रील प्रभुपाद भी सदैव पूर्णतम कृष्णभावनाभावित तत्व से ओतप्रोत परिभाषाएँ दिया करते थे।

अतः प्रस्तुत सूत्र को पूर्वोक्त के संदर्भ में ही समझना होगा। सूचित गुणों के उन्हीं के हेतु परिपालन से हटकर, अपेक्षाकारी भक्त को समझना चाहिए कि जबतक गुणों को कृष्णभावनामृत की ओर मोड़ा नहीं जायेगा तब तक सारे गुण भौतिक गुणों के ढाँचे में ही रहेंगे। एक अच्छा व्यक्ति सात्विक गुण का मूर्तिमान आदर्श होता है, किन्तु वह भी यदि परम पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति शरणागति से चूक जाए तो मुक्ति की प्राप्ति नहीं कर सकता। जैसा भगवान् कृष्ण कहते हैं, "सत्व-गुण में स्थित व्यक्ति सुख एवं ज्ञान के अनुभव द्वारा आबद्ध होते हैं।" (*भ. गी.* १४.६)

अहिंसा की परिभाषा देते हुए, श्रील प्रभुपाद ने उसे भक्त के जीवन हेतु उसके परम सिद्धांत पर पहुँचा दिया :

> *अहिंसा* को सामान्यतः शरीर को न मारना अथवा नष्ट न करना समझा जाता है, किन्तु वास्तव में *अहिंसा* का अर्थ है दूसरों को दुख में न डालना। सामान्य लोग जीवन की भौतिक विचार-धारा रूपी अज्ञान में फँसे रहते हैं, तथा सदैव भौतिक बंधनों द्वारा पीड़ित होते हैं। अतः जब तक व्यक्ति लोगों को आध्यात्मिक ज्ञान तक ऊपर नहीं उठाता, तब तक वह हिंसा करता रहता है। व्यक्ति को लोगों को यथार्थ ज्ञान के वितरण हेतु अपना श्रेष्ठ प्रयास करना चाहिए, जिससे लोग प्रबुद्ध हो सकें तथा इस भौतिक जंजाल को छोड़ सकें। वही अहिंसा है। (*भ.गी.* १३.१२, तात्पर्य)

श्रील प्रभुपाद ने पशुओं, विशेषकर गाय के प्रति हिंसा के विरोध में अथक प्रचार किया। जब भी वे किसी धर्मवादी या शिक्षित व्यक्ति से मिलते, तो श्रील प्रभुपाद उसे इसी तथ्य पर परखते थे। उन्होंने यह कभी नहीं माना कि भगवान् के सृष्ट प्राणियों को मारना अनुज्ञेय था "क्योंकि उनकी आत्मा नहीं होती" या जो भी कारण मांस-भक्षी लोग गढ़ते हों। भगवान् बुद्ध के अनुयायियों को श्रील प्रभुपाद ने चुनौती दी, "हम प्रसन्न हैं कि लोग भगवान् बुद्ध के अहिंसा आंदोलन में रुचि ले रहे हैं। किन्तु क्या वे इस विषय को अति गम्भीरतापूर्वक लेंगे तथा कसाईघरों को पूरी तरह से बंद कर देंगे? यदि नहीं, *तो अहिंसा का कोई अर्थ नहीं*" (*भागवत* १.३.२५, तात्पर्य)

भगवान् कृष्ण *सत्य* को दैवी गुणों में से एक बताते हैं। किन्तु *सत्य* परम पुरुषोत्तम भगवान् को परम सत्य के रूप में पहचानने पर निर्भर करता है। अन्यथा, भले कोई कितने ही यत्न से सत्य का अभ्यास करे, वह (सत्य) सापेक्ष रहता है तथा भगवान् को पूर्णतः संतुष्ट नहीं करता। किन्तु जब व्यक्ति पहचानता है कि परम पुरुषोत्तम भगवान् सत्य का परम मूर्तिमान स्वरूप हैं एवं इस प्रकार सत्य के पालन तथा वितरण में अपना जीवन समर्पित करता है, तब वह सत्यवान व्यक्ति बनना प्रारंभ कर सकता है।

शौच भीतर और बाहर दोनों अवस्थाओं से संबंधित है। दोनों महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु आन्तरिक शौच अधिक महत्त्वपूर्ण है। चैतन्य महाप्रभु ने आह्वान किया था कि पवित्र नाम संकीर्तन मन की सफाई हेतु श्रेष्ठ पद्धति है। सारी भौतिक धारणाएँ—जैसे देहात्मबुद्धि, संसार में द्वन्दों को देखना, तथा इंद्रियतृप्ति की उत्कण्ठा—हृदय की "मलिन वस्तुएँ" हैं। भक्त सदैव *हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे* के जप के अभ्यास द्वारा स्वयं को साफ करने, चमकाने तथा धूल जमने से मुक्त करने में व्यस्त रहता है।

जहाँ तक *दया* का संबंध है, स्वयं कृष्णभावनामृत की प्राप्ति तथा अन्यों के

साथ उसको बाँटने से श्रेयस्कर और कोई दया नहीं हो सकती।

आस्तिक्य, "श्रद्धा", का अभिप्राय है कि हमें शास्त्र के शब्दों का अर्थवाद नहीं करना चाहिए, अपितु उसे 'यथावत्' ग्रहण करना चाहिए। जब *भगवद्गीता* में कृष्ण कहते हैं कि "मेरे प्रति शरणागत होओ", तो व्यक्ति को स्वयं को कृष्ण से अधिक बुद्धिमान नहीं समझना चाहिए और यह दावा नहीं करना चाहिए कि हमें व्यक्ति कृष्ण के प्रति नहीं, अपितु कृष्ण के भीतर की आत्मा के प्रति शरणागत होना चाहिए। "श्रद्धा" का अर्थ कामनारहित तथा रुकावटरहित भक्तिमय सेवा का अभ्यास भी है।

भगवद्गीता (१३.८-१२) में इसी के सदृश गुणों की सूची की व्याख्या करते हुए श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "ज्ञान की पद्धति का भगवान् की विशुद्ध भक्तिमय सेवा में अवसान हो जाता है। अतः यदि व्यक्ति भगवान् की दिव्य सेवा के समीप न जाए, या समीप जाने में समर्थ न हो, तो अन्य उन्नीस गुणों का कोई विशिष्ट मूल्य नहीं होता। किन्तु यदि व्यक्ति पूर्ण कृष्णभावनामृत में भक्तिमय सेवा ग्रहण करे, तो अन्य उन्नीस गुणों का विकास भी उसमें स्वयमेव हो जायेगा।"

विशिष्ट गुणों की सूची देकर एवं अन्यान्य का संकेत देने हेतु *आदि* शब्द का प्रयोग करके, नारद हमें पुनस्मरण कराते हैं कि भक्ति को उत्तम व्यवहार की आधारशिला पर स्थित होना चाहिए। भक्त निपट मूर्ख या धूर्त नहीं हो सकता। श्रील प्रभुपाद से एक बार एक दूरदर्शन साक्षात्कारी द्वारा पूछा गया था, "मैं कृष्ण के भक्त को कैसे पहचान पाऊँगा?" प्रभुपाद ने उत्तर दिया, "वह पूर्ण सभ्य व्यक्ति होगा।"

सूत्र ७९

सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तैर्भगवानेव भजनीयः॥७९॥

सर्वदा—सदैव; **सर्वभावेन**—अपने पूरे भाव से; **निश्चिन्तैः**—संशय से मुक्त व्यक्ति द्वारा; **भगवान्**—भगवान्; **एव**—अवश्य; **भजनीयः**—भजन होना चाहिए।

अनुवाद

संशयरहित व्यक्तियों को सर्वदा सर्वभाव से भगवान् को भजना चाहिए।

तात्पर्य

सूत्र १२ पर अपने तात्पर्य में, श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "*नारद-भक्ति-सूत्र भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवतम्* का सार है।" यहाँ फिर हम उस कथन की सत्यता देखते हैं, क्योंकि यह सूत्र *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण के गुह्यतम कथनों के बहुत समान है। उदाहरणस्वरुप, अध्याय पंद्रह के अंत में वे कहते हैं,

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥

"जो कोई भी मुझे संशयरहित होकर पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में जानता है, वह सब कुछ जानने वाला है। अतएव हे भरत पुत्र! वह व्यक्ति मेरी पूर्ण भक्ति में रत होता है। हे अनघ! यह वैदिक शास्त्रों का सर्वाधिक गुप्त अंश है, जिसे मैंने अब प्रकट किया है। जो कोई इसे समझता है, वह बुद्धिमान हो जाएगा और उसके प्रयास पूर्ण होंगे।" (*भ.गी.* १५.१९-२०)। और फिर अठारहवें अध्याय में :

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

"चूँकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय मित्र हो, अतएव मैं तुम्हें अपना परम आदेश, जो सर्वाधिक गुह्यज्ञान है, बता रहा हूँ। इसे अपने हित के लिए सुनो। सदैव मेरा चिन्तन करो, मेरे भक्त बनो, मेरी पूजा करो और मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार तुम निश्चित रूप से मेरे पास आओगे। मैं तुम्हें इसका वचन देता हूँ, क्योंकि तुम मेरे परम प्रिय मित्र हो।" (*भ. गी.* १८.६४-६५)।

"सदैव मेरा चिंतन करो" भगवान् कृष्ण के इस निर्देश में तथा नारद के "सदैव भगवान् कृष्ण का चिंतन करो" निर्देश में कोई अंतर नहीं है। और अवश्य ही, शिष्य परंपरा में नारद का कोई भी अनुगामी उनके शब्दों की पुनरावृति कर सकता है : "केवल परम पुरुषोत्तम भगवान् को सर्वदा पूर्णहृदय से भजना चाहिए।" किन्तु हमारे शब्दों को भक्ति-सूत्रों में नारद द्वारा प्रदत्त साधनाओं को समर्पित जीवन से जन्मे दृढ़ निश्चय सहित उच्चारित होना चाहिए।

भक्तिमय सेवा में हमारे शब्द तथा कृत्य यंत्रवत् नहीं हो सकते। *भक्ति* की योग्यता हेतु, उन्हें प्रेमभाव से करना होगा। जैसा भगवान् कृष्ण कहते हैं, "यदि कोई प्रेम तथा भक्ति के साथ मुझे पत्र, पुष्प, फल या जल प्रदान करता है, तो मैं

उसे स्वीकार करता हूँ" (*भ.गी.* ९.२६)। और फिर, "जो प्रेमपूर्वक मेरी सेवा करने में निरन्तर लगे रहते हैं, उन्हें मैं ज्ञान प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझ तक आ सकते हैं" (*भ. गी.* १०.१०)।

कृष्ण के प्रति जिस सर्वहृदयपूर्ण, एकनिष्ठ भक्ति का प्रस्ताव नारद करते हैं, वह भीष्म की प्रेम-परिभाषा में प्रतिध्वनित होती है : "प्रेम का अर्थ किसी भी अन्य व्यक्ति के प्रति सब आसक्तियों को निकाल कर अपने सारे स्नेह को पूर्णतः एक व्यक्ति पर जमाना है" (*भक्तिरसामृतसिन्धु*)। यह अवस्था समस्त महान भक्तों, जैसे प्रह्लाद, उद्धव, नारद और वृंदावनवासियों ने प्राप्त की थी।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् कृष्ण में सतत, परमानंदपूर्ण निमग्नता *भक्ति* का लक्ष्य है, तथा भक्ति के अंतर्गत उस लक्ष्य तक पहुँचने की साधना भी आती है। *भगवद्गीता* के बारहवें अध्याय में भगवान् कृष्ण स्वतःस्फूर्त प्रेम की सर्वोच्च अवस्था की संस्तुति करते हैं, किन्तु वे यह कहकर हमें उत्साहित भी करते हैं कि भक्ति-योग के अभ्यासों का पालन व्यक्ति को परम अवस्था तक ले जायेगा :

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥

"मुझ भगवान् में अपने चित्त को स्थिर करो और अपनी सारी बुद्धि मुझमें लगाओ। इस प्रकार तुम निस्सन्देह मुझमें सदैव वास करोगे। हे अर्जुन, हे धनञ्जय! यदि तुम अपने चित्त को अविचल भाव से मुझ पर स्थिर नहीं कर सकते, तो तुम भक्तियोग के विधि-विधानों का पालन करो। इस प्रकार तुम मुझे प्राप्त करने की चाह उत्पन्न करो। (*भ. गी.* १२.८-९)

भक्ति की स्वतःस्फूर्त अवस्था में स्थित महाजनों से श्रवण स्वयं ही साधक की सबसे महत्त्वपूर्ण सेवाओं मे से एक है। भगवान् कृष्ण की पत्नियों में से एक, लक्ष्मणा, ने भी माना कि भगवान् के प्रति उनका आकर्षण नारद के शब्दों को सुनकर जागृत हुआ था : "मेरी प्रिय रानी, मैंने अनेक बार देवर्षि नारद को भगवान् कृष्ण की लीलाओं का यशोगान करते सुना था। जब मैंने नारद को यह कहते सुना कि भाग्य की देवी, लक्ष्मी, भी उनके चरणकमलों के प्रति आकर्षित थीं, तो मैं कृष्ण के चरणकमलों के प्रति आकर्षित हो गई।' (*लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण*)।

हमें सदैव नारद तथा उनके प्रतिनिधियों को अपने वंदनीय पथ-प्रदर्शकों के रूप में रखना चाहिए। वे हमें भगवान् कृष्ण तक पहुँचायेंगे।

सूत्र ८०

स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवत्यनुभावयति भक्तान्॥८०॥

सः—वे; **कीर्त्यमानः**—कीर्तित होते हुए; **शीघ्रम्**—शीघ्र; **एव**—अवश्य; **आविर्भवति**—आविर्भाव होता है; **अनुभावयति**—अनुभव कराते हैं; **भक्तान्**—भक्तों को।

अनुवाद

जब भगवान् कीर्तित होते हैं, तो वे शीघ्र स्वयं को अपने भक्तों पर प्रकट कर देते हैं तथा उनको स्वयं का यथावत् अनुभव करा देते हैं।

तात्पर्य

श्रीमद्भागवतम् व्याख्या करती है कि नारद ने कैसे भगवान् कृष्ण का प्रत्यक्ष दर्शन किया। नारद ने अपने घर आए ऋषियों से कृष्ण के बारे में सुनने के पश्चात्, अपनी माँ के साथ रहना जारी रखा, क्योंकि वे केवल पाँच-वर्षीय बालक थे। किन्तु उनकी माँ अचानक मर गई, तथा नारद ने भ्रमण करना प्रारंभ किया। एक बार, जब उन्होंने एक वटवृक्ष के नीचे बैठकर परमात्मा पर ध्यान लगाना प्रारंभ किया, तो भगवान् ने उनको दर्शन दिए। नारद बताते हैं, "जैसे ही मैंने दिव्य प्रेम में परिवर्तित अपने मन से भगवद्-व्यक्तित्व के चरणकमलों में ध्यान लगाना प्रारंभ किया, वैसे ही मेरे नेत्रों से अश्रु ढुलक पड़े तथा अविलंब भगवद्-व्यक्तित्व, श्रीकृष्ण, मेरे हृदयकमल पर प्रकट हो गए।" (*भागवत* १.६.१६)

इस प्रारंभिक दर्शन के पश्चात्, भगवान् ने अपने व्यक्तिगत रूप को समेट लिया परन्तु वे नारद से बोले : "हे गुणी! तुमने मात्र एक बार मेरा दर्शन किया है, और यह बस मेरे प्रति तुम्हारी इच्छा को बढ़ाने हेतु है, क्योंकि जितनी अधिक तुम मेरी उत्कंठा करोगे, उतने ही अधिक भौतिक इच्छाओं से मुक्त होते जाओगे" (*भागवत* १.६.२२)। भगवान् ने नारद को आगे बताया कि अन्ततः "वर्तमान दुःखद भौतिक जगतों को त्यागने के बाद तुम दिव्य जगत में मेरे पार्षद बनोगे।"

अतः नारद का जीवन प्रस्तुत *सूत्र* में दिए गए उनके अपने निर्देश का व्यक्तिगत प्रमाण है। नारद तत्पश्चात् महाजन कहलाए जाने वाले कृष्णभावनामृत के प्रामाणिक बारह आचार्यों में से एक बन गए, एवं वे प्रह्लाद, ध्रुव, और व्यासदेव जैसे धुरन्धरों के गुरु हैं।

एक बार नारद व्यासदेव के पास आए जब व्यास अधिकांश वैदिक शास्त्रों का संकलन करने के बाद भी उदास थे। नारद ने शीघ्र ही अपने शिष्य की हताशा का कारण जान लिया और उनसे बोले :

> तुमने भगवान् की लोकोत्तर निर्मल महिमा का वास्तविक रूप में प्रसारण नहीं किया। भगवान् की दिव्य इंद्रियों को संतुष्ट न करने वाला दर्शन मूल्यहीन माना जाता है। अतः, कृपया परम पुरुषोत्तम भगवान्, कृष्ण, की दिव्य लीलाओं की अधिक स्पष्ट रूप से व्याख्या करो। (*भागवत्.* १.५.८,२१)

व्यास ने नारद के निर्देशों को हृदयंगम किया तथा *श्रीमद्भागवतम्* का रचयन प्रारंभ किया, जो अपने अनेक अवतारों में भगवान् कृष्ण के यशोगान तथा भगवान् के शुद्ध भक्तों के चरित्रों से पूर्ण है।

बाद में व्यासदेव ने *श्रीमद्भागवतम्* के विभिन्न श्लोकों में श्री नारद देव की महिमा गाकर अपना गहन आभार अभिव्यक्त किया :

अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः।
गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत्॥

"श्रील नारद मुनि धन्य हैं क्योंकि वे भगवान् की क्रियाओं का यशोगान करते हैं, और ऐसा करने में स्वयं आनंद उठाते हैं एवं जगत के सभी दुखी जीवों को भी प्रबुद्ध करते हैं।" (*भागवत.* १.६.३८)

सूत्र ८१

त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी॥ ८१॥

त्रि—तीन प्रकार से (अपने मन, वचन और शरीर से); **सत्यस्य**—सत्यवादी हेतु; **भक्तिः**—भक्तिमय सेवा; **एव**—एकमात्र; **गरीयसी**—सबसे प्रिय; **भक्तिः**—भक्तिमय सेवा; **एव**—एकमात्र; **गरीयसी**—सबसे प्रिय।

अनुवाद

अपने मन, वचन और शरीर का सत्यता से प्रयोग करने वाले व्यक्ति के लिए भक्तिमय सेवा अनमोल संपत्ति है।

तात्पर्य

त्रिसत्य शब्द सत्य की अभिव्यक्ति के तीन प्रकारों—मानसिक, वाचिक और शारीरिक—की ओर संकेत कर सकता है। फिर, *त्रिसत्य* को यह निर्देशित करते हुए भी ग्रहण किया जा सकता है कि भक्ति काल के सभी तीन पक्षों—भूत, वर्तमान और भविष्य—में सत्य को जानने का श्रेष्ठतम उपाय है। भगवान् कपिल ने अपनी माँ, देवहूति, को बताया, "मैं अब तुम्हारे प्रति उस पुरातन योग पद्धति की व्याख्या करूँगा, जो मैंने पूर्व काल में महान ऋषियों को बताई थी। यह प्रत्येक प्रकार से सेवनयोग्य तथा व्यावहारिक है" (*भागवत*. ३.२५.१४)। अपने तात्पर्य में प्रभुपाद लिखते हैं; "जब हमारे पास वैदिक शास्त्रों में उपस्थित अत्युत्तम पद्धति पहले से ही है, तो अबोध जनता को दिग्भ्रमित करने हेतु एक नई पद्धति की कपोलकल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं। वर्तमान समय में प्रामाणिक पद्धति को ठुकराना तथा नवीन आविष्कारित योग पद्धति के नाम पर कोई बकवास-वस्तु उपस्थित करना फैशन हो गया है" (*भागवत्* ३.२५.१४, तात्पर्य)। *भक्ति* पुरातन विज्ञान, एक तात्कालिक व्यावहारिक कार्यक्रम, एवं भविष्य का स्वप्न है। यह *त्रिकालज्ञान* अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञान है।

शरीर, वचन तथा मन के सर्वोत्तम उपयोग के रूप में, भक्ति सर्वोत्तम सुख, सर्वोत्तम कार्य, एवं सर्वोत्तम ध्यान है। जब चैतन्य महाप्रभु ने रामानंद राय से सबसे उत्तम वस्तु का वर्णन करने को कहा, तो रामानंद राय ने अनेक प्रकारों से भक्ति का वर्णन किया :

महाप्रभु ने पूछा, "सब प्रकार की शिक्षाओं में, सबसे महत्त्वपूर्ण शिक्षा कौन सी है?" रामानंद राय ने उत्तर दिया, "कृष्ण की दिव्य भक्तिमय सेवा के अतिरिक्त और कोई शिक्षा महत्त्वपूर्ण नहीं है।"

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने फिर जिज्ञासा की, "सभी मुक्त व्यक्तियों में, किसको सर्वोच्च मानना चाहिए?" रामानंद ने उत्तर दिया, "जिसके पास कृष्ण-प्रेम है, उसने सर्वोच्च मुक्ति को प्राप्त कर लिया है।"

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पूछा, "लोगों द्वारा सुने जाने वाले सब विषयों में से, जीवों के लिए श्रेष्ठतम कौन सा है?" रामानन्द राय बोले, "राधा-कृष्ण के प्रेम-प्रसंगों का श्रवण कान के लिए सबसे अधिक संतुष्टिकारक है।" (*चै.च. मध्य* ८.२४५, २४९, २५५)

प्रस्तुत सूत्र में नारद रामानंद राय द्वारा कही बात को ही घनीभूत रूप में कहते हैं : *भक्ति* प्रत्येक श्रेणी में सर्वोत्तम है। और हम इसका संदेह क्यों करें? और क्यों हम भक्ति को अन्य सत्यों से मिलाकर फीका करें, मानो भक्ति को मदद की

आवश्यकता हो? भक्ति स्वयं समस्त ज्ञान और वैराग्य प्रदान करती है। यह सबसे पराक्रमी कर्म, तथा साथ ही सर्वोत्तम कला, विज्ञान और मनोरंजन भी अर्पित करती है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रूप में, *एकमात्र भक्ति* परम पुरुषोत्तम भगवान् को प्रिय है! जैसा भगवान् कृष्ण कहते हैं, "मुझे यथावत्, परम पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में, एकमात्र भक्तिमय सेवा द्वारा जाना जा सकता है। और ऐसी भक्ति से जब व्यक्ति मेरी भावना से पूर्ण हो जाता है, तो वह भगवद्-धाम में प्रवेश कर सकता है" (*भ.गी.* १८.५५) यदि हम सोचें भी कि हम किसी अ-*भक्ति* विधि द्वारा किसी वस्तु को उसी उत्तमता से कार्यान्वित कर सकेंगे, तो हमारा प्रयास भगवान् को प्रसन्न करने में फिर भी विफल ही रहेगा एवं इस प्रकार हमें आत्म-संतुष्टि नहीं मिलेगी। *भक्ति* सर्वोत्तम है, तथा *भक्ति* का अर्थ भगवान् श्रीकृष्ण की भक्तिमय सेवा है। एक बार नारद वृंदावन में भगवान् कृष्ण से मिले तथा उन्होंने उनकी अद्वितीय स्थिति की स्तुति की :

> मेरे प्रभु, मुझे अपने चरणकमलों पर सादर प्रणाम करने दें... आपकी अपार शक्ति किसी के द्वारा माप्य नहीं। मेरे प्रिय प्रभु, आप परम नियंता हैं। आप अपनी निजी अंतरंगा शक्ति के अंतर्गत हैं, और आपको अपनी किसी भी सृष्टि पर निर्भर समझना मिथ्या मात्र है... अपने आदि सच्चिदानंद स्वरूप में पृथ्वीतल पर आपका आविर्भाव आपकी ही लीला है। आप अपने सिवा किसी अन्य वस्तु पर निर्भर नहीं; इसलिए मैं आपके पादपद्मों के प्रति सादर प्रणाम अर्पित करता हूँ। (*लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण*)

हमें निसंशय होकर भक्ति-योग का अभ्यास कर पाने हेतु नारद के मार्मिक शब्दों को अपने हृदयों में संजोना चाहिए। और प्रमोदपूर्वक कृष्ण की महिमाओं का आह्वान करना चाहिए, जैसा कि नारद करते हैं। नारद अंतरिक्ष यात्री हैं, और जहाँ भी जाते हैं वीणावादन के साथ भगवान् का यशोगान करते हैं :

नारद मुनि बजाय वीणा राधिका-रमण नामे

"अपनी वीणा बजाते हुए, नारद मुनि भगवान् राधिकारमण के नामों का गायन करते हैं।" नारद मुनि के अनुयायियों के रूप में, हम भी किसी "वीणा" या भजन विधि का चयन कर सकते हैं, और उसका भगवान् को प्रसन्न करने हेतु उपयोग कर सकते हैं। नारद के समान अपनी वीणा बजाते हुए, हम प्रत्येक मिलनेवाले को बता सकते हैं, "भक्ति सर्वोत्तम पथ है, भक्ति सर्वोत्तम है।"

सूत्र ८२

गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्ति-
वात्सल्यासक्तिकान्तासक्त्यात्मनिवेदनासक्ति
तन्मयासक्तिपरमविरहासक्तिरूपैकधाप्येकादशधा भवति॥ ८२॥

गुण—(भगवान् के) गुणों का; **माहात्म्य**—माहात्म्य; **आसक्ति**—आसक्ति; **रूप**—उनके रूप में; **आसक्ति**—आसक्ति; **पूजा**—पूजा में; **आसक्ति**—आसक्ति; **स्मरण**—स्मरण में; **आसक्ति**—आसक्ति; **दास्य**—दास्य के प्रति; **आसक्ति**—आसक्ति; **वात्सल्य**—वात्सल्य के प्रति; **आसक्ति**—आसक्ति; **कान्ता**—दाम्पत्य प्रेम के रूप में; **आसक्ति**—आसक्ति; **आत्म**—आत्मा; **निवेदन**—अर्पण के प्रति; **आसक्ति**—आसक्ति; **तत्-मय**—उनके ध्यान में पूर्ण होने के प्रति; **आसक्ति**—आसक्ति; **परम**—परम; **विरह**—विरह; **आसक्ति**—आसक्ति; **रूपा**—रूप; **एकधा**—एक गुना; **अपि**—यद्यपि; **एकादशधा**—ग्यारह गुना; **भवति**—बन जाता है।

अनुवाद

यद्यपि भक्तिमय सेवा एक है, तथापि यह ग्यारह प्रकार की आसक्तियों में अभिव्यक्त होती है : गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और विरहासक्ति। यह अंतिम आसक्ति परम आसक्ति है।

तात्पर्य

नारद ने शिक्षा दी है कि *भक्ति* सत्य को जानने की पद्धतियों में सर्वोत्तम है, और उन्होंने सिद्धि तक पहुँचने हेतु विधि-निषेधों की व्याख्या की है। उन्होंने हमें बताया है कि हमें स्वयं *भक्ति* का अनुभव करना है, और बताया है कि वह परमोच्च आनंद है। अब वे भक्तिमय सेवा करने के विभिन्न प्रकारों की सूची देकर *भक्ति* की स्वच्छंदता का निर्देश करते हैं।

यह कहीं भी प्रतीत नहीं होता कि नारद एक सैद्धांतिक प्रबन्ध प्रस्तुत कर रहे हैं। अतः कृष्ण की व्यावहारिक सेवा की विधि जाने बिना हमें *नारद-भक्ति-सूत्र* का अध्ययन समाप्त नहीं कर देना चाहिए। एक बार एक कॉलेज का छात्र श्रील प्रभुपाद से मिलने आया और उन्हें बताया कि उसने *भगवद्गीता* को पहले ही पढ़ रखा है।

श्रील प्रभुपाद ने पूछा, "तो, तुम्हारा क्या निर्णय है?" छात्र ने स्वीकार किया कि *गीता* के अपने अध्ययन के पश्चात् वह किसी विशिष्ट निर्णय पर नहीं पहुँच पाया है। प्रभुपाद ने वर्णन किया कि *भगवद्गीता* का निर्णय यह है कि भगवान् कृष्ण परम पुरुषोत्तम भगवान् हैं और यह कि व्यक्ति को अन्यान्य समस्त धर्म पद्धतियों का परित्याग करके उनकी सेवा करनी चाहिए। *भगवद्गीता* के बुद्धिमान पाठक को इसे जानना चाहिए तथा भक्तिमय सेवा को ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार, यहाँ भक्ति-सूत्रों की समाप्ति पर नारद हमें बता रहे हैं कि हम भगवान् की सेवा कैसे कर सकते हैं।

अवश्य, कृष्ण के साथ *रस* मुक्त भक्तों के लिए हैं और उन्हें मनमाने ढंग से ग्रहण नहीं किया जा सकता। हमारी कृष्ण-सेवा हमारे गुरु द्वारा मार्गदर्शित होनी चाहिए। वे हमें हमारी मनोशारीरिक प्रकृति के अनुसार, हमारी शुद्धि की सबसे प्रभावपूर्ण विधि द्वारा सेवा करने में मदद करेंगे। किन्तु प्रारंभ से ही हम कम से कम यह जान सकते हैं कि भगवान् कृष्ण अनेक प्रकारों से अपने नित्यमुक्त पार्षदों द्वारा सेवित होते हैं तथा हमारी निजी सिद्धि यह पहचानने में होगी कि हमें अपने हृदय की संपूर्ण सामर्थ्य से उनकी सेवा किस प्रकार करनी है।

भक्त भगवद्-भक्तों द्वारा की जाने वाली विभिन्न सेवाओं की सराहना करता है, तथा इस बात का अध्ययन करता है कि भगवान् के साथ अपने विशिष्ट संबंध में वह कैसे सिद्ध हो सकता है। नारद के भक्ति के ग्यारह प्रकार प्रह्लाद महाराज द्वारा शिक्षित भक्ति की नौ विधियों तथा अपने *भक्तिरसामृतसिन्धु* में रूप गोस्वामी द्वारा वर्णित भगवान् कृष्ण के साथ पाँच मुख्य रसों का सम्मिश्रण प्रतीत होते हैं। भक्ति की नौ विधियों में से एक के अभ्यास द्वारा सिद्धि प्राप्त करने वाले भक्तों के उदाहरण निम्नलिखित हैं :

(१) महाराज परीक्षित कृष्ण के बारे में श्रवण द्वारा सिद्ध हुए; (२) शुकदेव गोस्वामी भगवान् का महिमा-गान करके सिद्ध हुए; (३) प्रह्लाद महाराज भगवान् के स्मरण द्वारा सिद्ध हुए; (४) लक्ष्मीदेवी भगवान् के पादपद्मों का सेवन करके सिद्ध हुईं; (५) महाराज पृथु भगवान् के अर्चन द्वारा सिद्ध हुए; (६) अक्रूर भगवान् के वंदन द्वारा सिद्ध हुए; (७) हनुमान भगवान् के दास्य द्वारा सिद्ध हुए; (८) अर्जुन भगवान् के साख्य द्वारा सिद्ध हुए; और (९) बलि महाराज भगवान् को सर्वस्व अर्पण करने द्वारा सिद्ध हुए।

जहाँ तक पांच रसों का संबंध है, वे हैं : (१) शांत, (२) दास्य, (३) साख्य; (४) वात्सल्य, और (५) माधुर्य। इनमें से प्रत्येक रस के भक्तों के विशिष्ट उदाहरण इस प्रकार हैं : *शांत-रस* में चार कुमार; *दास्य-रस* में हनुमान तथा द्वारका व मथुरा

के विभिन्न सेवक; *साख्य-रस* में श्रीदामा, सुदामा और स्तोक-कृष्ण; *वात्सल्य रस* में कृष्ण के माता-पिता; और *माधुर्य-रस* में वृंदावन की गोपियाँ तथा द्वारका की रानियाँ।

सारे मुक्त भक्त पूर्ण दिव्यता में स्थित होते हैं, तथा एक भक्त अन्य की सिद्धि हेतु उत्कंठा नहीं करता। परन्तु वैष्णव आचार्यों ने यह दिखाने हेतु रसों का विश्लेषण किया है कि *दास्य-रस* से *माधुर्य-रस* तक, भगवान् के प्रति स्नेह में वृद्धि तथा भय-आदर के भावों में कमी होती जाती है। अन्य रसों के समस्त गुण *माधुर्य* में पूर्णतः अवस्थित रहते हैं। जहाँ तक *विरह* में प्रेम का संबंध है, जिसे नारद आसक्ति की ग्यारहवीं तथा परमोच्च अवस्था के रूप में निरूपित करते हैं; वह विशेष रूप से वृंदावन की गोपियों द्वारा, तथा चैतन्य महाप्रभु द्वारा भी, प्रदर्शित किया गया था। चैतन्य महाप्रभु द्वारा कृष्ण से विरह का प्रस्तुतिकरण भगवत्प्रेम की सब संभव अभिव्यक्तियों में सर्वोच्च है।

यद्यपि दास्य-रस से माधुर्य-रस तक रसों में अंतरंगता की वृद्धि होती है, तथापि सभी रस भगवान् की *सेवा* के परमानंद पर आधारित रहते हैं। कृष्णदास कविराज लिखते हैं; "कृष्ण-प्रेम का यह अद्वितीय प्रभाव होता है : यह बड़ों, समवयस्कों तथा छोटों को भगवान् कृष्ण की सेवाभावना में सराबोर कर देता है" (*चै.च. आदि* ६.५३)

वृंदावन में कृष्ण के मित्रगण उनके प्रति शुद्ध साख्य स्नेह का अनुभव करते हैं, तथापि वे भी सेवाभाव से उनके चरणकमलों की पूजा करते हैं। कृष्ण के माता-पिता कभी-कभी भगवान् को डाँटते हैं, यह सोचकर कि वह उनका नन्हा बालक है, तथापि वे सदैव स्वयं को उनका सेवक समझते हैं। कृष्ण के पिता, नंद महाराज, ने एक बार उद्धव से कहा था, "हमारे मन तुम्हारे भगवान् कृष्ण के चरणकमलों में आसक्त रहें, हमारी जिह्वाएँ उनके पवित्र नामों का उच्चारण करें, और हमारे शरीर उनके समक्ष दण्डवत पड़े रहें" (*चै.च. आदि* ६.६०)। वृंदावन की गोपियाँ भी स्वयं को कृष्ण की सेविकाएँ समझती हैं। श्रीमती राधारानी प्रार्थना करती है, "हे मेरे प्रभु... अपनी इस दासी पर स्वयं को प्रकट कीजिए, जो आपकी अनुपस्थिति के कारण अत्यंत व्याकुल है" (*भागवत* १०.३३.९)। भगवान् का दास होना इतना शुभ तथा उल्लासमय है कि स्वयं भगवान् कृष्ण भी अपने ही दास का रूप और भाव स्वीकारने हेतु चैतन्य महाप्रभु के रूप में अवतरित हुए। अतः अन्य वैष्णव भक्तों का दास बनकर समस्त भक्तगण भगवान् कृष्ण से अपने प्रेमपूर्ण संबंध का सर्वोत्तम परिपालन कर सकते हैं। यदि हम भगवान् के भक्तों की अविचल तथा स्वतःस्फूर्त प्रेमपूर्ण सेवा में स्वयं को स्थित करें, तो कृष्ण हमारे प्रति स्वयं को प्रकट

करेंगे तथा हमारे द्वारा उनकी सेवा के नवीन, अंतरंग प्रकारों का निर्देश करेंगे।

सूत्र ८३

इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमताः
कुमारव्यासशुकशाण्डिल्यगर्गविष्णुकौण्डिल्य-
शेषोद्धवारुणिबलिहनूमद्विभीषणादयो भक्त्याचार्याः ॥ ८३ ॥

इति—अतः; **एवं**—इस प्रकार; **वदन्ति**—वे बोलते हैं; **जन**—सामान्य लोगों का; **जल्प**—गप्प का; **निर्भया**—निर्भय; **एक**—एक का; **मताः**—मत; **कुमार - व्यास - शुक - शाण्डिल्य - गर्ग - विष्णु - कौण्डिल्य - शेष - उद्धव - अरुणि - बलि - हनुमान - विभीषण-आदयः**—कुमारगण, व्यास, शुक, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिल्य, शेष, उद्धव, अरुणि, बलि, हनुमान, विभीषण, और अन्य; **भक्ति**—भक्तिमय सेवा के; **आचार्यः**—आचार्यगण।

अनुवाद

कुमारगण, व्यास, शुक, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिल्य, शेष, उद्धव, अरुणि, बलि, हनुमान, विभीषण आदि भक्तित्व के आचार्यगण लोगों की बकवास का कुछ भय न करते हुए, एकमत होकर, ऐसा ही कहते हैं।

तात्पर्य

पहले नारद ने व्यास तथा गर्ग सदृश ऋषियों के अनुसार *भक्ति* की परिभाषाएँ दीं थी; और अब वे अधिक लम्बी सूची देते हैं। देने के साथ वे यह भी कहते हैं कि अन्य अनेक आचार्य हैं जिनकी उद्धृति दी जा सकती है। इस प्रकार, यद्यपि नारद का कहा पर्याप्त है, तथापि वे *भक्ति* के समस्त पथों में सर्वश्रेष्ठ होने के अपने निर्णय की प्रमाणिकता में वृद्धि करते हैं।

भगवान् कृष्ण को परम ब्रह्म तथा देवाधिदेव के रूप में स्तुति करते हुए, अर्जुन ने भी अपने कथन को बल देने हेतु महान ऋषियों का संकेत दिया था :

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।।

"आप परम पुरुषोत्तम भगवान् हैं, परम धाम, पवित्रतम, परम सत्य हैं। आप शाश्वत, दिव्य, आदिदेव, अजन्मा तथा महानतम हैं। नारद, असित, देवल और व्यास सदृश समस्त महान ऋषियों ने आपके संबंध में इस सत्य की पुष्टि की है, तथा अब आप स्वयं मेरे प्रति इसकी घोषणा कर रहे हैं।" (*भ.गी.* १०.१२-१३)

श्रील प्रभुपाद लिखते हैं, "यह नहीं है कि चूँकि कृष्ण अर्जुन के अंतरंग मित्र हैं अतः अर्जुन उनको परम पुरुषोत्तम भगवान् व परम सत्य सम्बोधित करके उनकी चापलूसी कर रहे हैं। इन दो श्लोकों में अर्जुन द्वारा कथित सबकुछ वैदिक सत्य द्वारा पुष्टित है" (*भ.गी.* १०.१२-१३, तात्पर्य)। जब यमराज अपने संदेशवाहक यमदूतों को यह जताना चाहते थे कि भगवान् विष्णु परम सत्ता हैं तथा भक्ति परम पथ है, तो उन्होंने भी नामों की प्रभावी सूची की उद्धृति दी थी। ये शिक्षकगण बारह महाजनों, या कृष्णभावनामृत के आचार्यों, के रूप में जाने जाते हैं :

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्।।
द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः।
गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते।।

"ब्रह्मा, भगवान् नारद, शिवजी, चारों कुमार, कपिल (देवहूति के पुत्र), स्वायंभुव मनु, प्रह्लाद महाराज, जनक महाराज, भीष्म पितामह, बलि महाराज, शुकदेव गोस्वामी तथा स्वयं मैं असली धर्म के सिद्धांत को जानने वाले हैं। हे सेवको! यह दिव्य धार्मिक सिद्धान्त, जो *भागवत धर्म* या भगवान् की शरणागति तथा भगवत्प्रेम कहलाता है, प्रकृति के तीनों गुणों से अकलुषित है। यह अत्यन्त गोपनीय है और सामान्य मनुष्य के लिए दुर्बोध है, किन्तु संयोगवश यदि कोई भाग्यवान इसे समझ लेता है तो वह तुरन्त मुक्त हो जाता है और भगवद्धाम लौट जाता है।" (*भागवत्* ६.३.२०-२१)

अपने तात्पर्य में, श्रील प्रभुपाद न केवल व्यक्तिगत ऋषियों की महत्ता पर अपितु इस तथ्य पर भी बल देते हैं कि वे वैष्णव सम्प्रदायों के प्रतिनिधिगण हैं :

> शिष्य-परम्पराएँ चार हैं—एक ब्रह्मा से, एक शिव से, एक लक्ष्मी से तथा एक कुमारों से चलने वाली। ब्रह्मा से चलने वाली शिष्य-परम्परा ब्रह्म-सम्प्रदाय कहलाती है, शिव जी (शम्भु) से चलने वाली परम्परा रुद्र-सम्प्रदाय तथा देवी लक्ष्मी से चलने वाली परम्परा श्रीसम्प्रदाय तथा कुमारों से चलने

वाली कुमार-सम्प्रदाय कहलाती है। मनुष्य को अत्यन्त गोपनीय धार्मिक प्रणाली को समझने के लिए इन चार सम्प्रदायों में से किसी एक की शरण ग्रहण करनी होती है। *पद्म पुराण* में कहा गया है कि *सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मताः*—यदि कोई इन चार मान्यताप्राप्त शिष्य-परम्पराओं का पालन नहीं करता तो उसका मन्त्र या दीक्षा निष्फल है।" (*भागवत्* ६.३.२०-२१, तात्पर्य)

नारद कहते हैं कि परम सत्य के आचार्यगण आलोचना से निर्भय थे। बीते युगों में मूर्ख व्यक्ति शुद्ध भक्तों, यहाँ तक कि स्वयं भगवान् की भी, आलोचना करते थे। एक बार शक्तिशाली प्रजापति दक्ष ने नारद को शाप दिया था क्योंकि उन्होंने दक्ष के पुत्रों को विवाह त्यागने तथा ब्रह्मचारी रहने को आश्वस्त कर दिया था। दक्ष ने नारद को भक्त के स्वांग में पापी धूर्त कहा था। नारद ने दक्ष के शाप को बिना प्रतिकार सहन किया, किन्तु उन्होंने अपना प्रचार जारी रखा।

अपने तात्पर्यों में श्रील प्रभुपाद ने नारद को प्राप्त आलोचना की तुलना अपने शिष्यों के माता-पिता से स्वयं उन्हें प्राप्त आलोचना से की। उनका आरोप दक्ष के अनुरूप था—कि गुरु ने अविवेकपूर्वक युवक-युवतियों को इंद्रियतृप्ति का सामान्य जीवन त्यागने तथा भगवद्-भक्ति व वैराग्य के कट्टर रूपों को ग्रहण करने को प्रेरित किया। कृष्णभावनामृत आंदोलन की आलोचना ने "पंथ-विरोधी आंदोलन" के अंश रूप में व्यवस्थित आकार धारण कर लिया है, किन्तु श्रील प्रभुपाद ने अपने अनुयायियों को आक्रमणों से न घबराने का विश्वास दिलाया :

> शत्रु बनाना हमारा कार्य नहीं, किन्तु विधि ही कुछ ऐसी है कि अभक्तगण हमारे प्रति सदैव शत्रुभाव रखेंगे। फिर भी जैसा कि शास्त्रों में कहा गया है भक्त को सहिष्णु तथा दयालु दोनों ही होना चाहिए। प्रचार में संलग्न भक्तों को अज्ञानी व्यक्तियों द्वारा आरोपित होने को तैयार रहना चाहिए, और फिर भी उन्हें पतित बद्ध जीवों के प्रति अत्यंत दयालु होना चाहिए। यदि नारद मुनि की शिष्य-परम्परा का कोई व्यक्ति अपना कर्त्तव्य पालन कर सकता है तो उसकी सेवा अवश्य ही मान्य होगी... प्रचार कार्य कठिन तथा अकृतज्ञ कार्य है, किन्तु प्रचारक को भगवान् के आदेशों का पालन करना चाहिए और भौतिकतावादी व्यक्तियों से निडर रहना चाहिए। (*भागवत्* ६.५.३९, तात्पर्य)

आलोचक लोग *हरे कृष्ण आंदोलन* को एक कपोलकल्पित नया पंथ कहकर इसकी निंदा करते हैं। किन्तु ठीक जैसे *नारद-भक्ति-सूत्र* आदरणीय आचार्यों तथा

महाजनों द्वारा अनुमोदित है, उसी प्रकार कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्री श्रीमद् अभय-चरणारविन्द भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद द्वारा सृष्ट *हरे कृष्ण आंदोलन* भी प्रमाणिक है। वास्तव में, नारद द्वारा उद्धृत आचार्यगण भी कृष्णभावनामृत आंदोलन का पृष्ठ-पोषण करते हैं। श्रील प्रभुपाद ब्रह्म-मध्व-गौडीय सम्प्रदाय की उस शिष्य शृंखला में आते हैं, जिसके अंतर्गत ब्रह्मा, नारद, व्यासदेव, मध्व एवं चैतन्य महाप्रभु भी हैं। श्रील प्रभुपाद के अनुयायियों द्वारा उच्चारित *प्रणाम-मंत्र* में, *गौर-वाणी-प्रचारिणे* वाक्यांश का अर्थ यह है कि श्रील प्रभुपाद गौरांग महाप्रभु की वाणी का प्रचार करते हैं। *हरे कृष्ण* के सामुदायिक कीर्तन वाला *संकीर्तन आंदोलन* स्वयं भगवान् चैतन्य महाप्रभु द्वारा आरंभ किया गया, और इसलिए कृष्णभावनामृत आंदोलन अब विश्व भर में एक नए धर्म के रूप में नहीं, अपितु आदि सम्प्रदाय के पुनरारम्भ के रूप में फैल रहा है। जैसा श्रील प्रभुपाद कहते हैं, "वास्तव में इस आंदोलन के आदि पिता भगवान् कृष्ण स्वयं हैं, क्योंकि यह बहुत लंबे समय पूर्व प्रारंभ हुआ था, किन्तु गुरु-शिष्य परंपरा द्वारा मानव समाज में आ रहा है।" (*भगवद्गीता यथारूप*, प्राक्कथन)

सूत्र ८४

य इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासनं विश्वसिति श्रद्धते
स भक्तिमान भवति स प्रेष्ठं लभते प्रेष्ठं लभते इति॥ ८४॥

यः—जो; **इदं**—इस; **नारद-प्रोक्तं**—नारद द्वारा कथित; **शिव**—शुभ; **अनुशासनं**—निर्देश; **विश्वसिति**—विश्वास करता है; **श्रद्धते**—से आश्वस्त होता है; **सः**—वह; **भक्तिमान्**—भक्तिमान; **भवति**—बन जाता है; **सः**—वह; **प्रेष्ठं**—सबसे प्रिय (भगवान् की) ; **लभते**—प्राप्ति करता है; **सः**—वह; **प्रेष्ठं**—सबसे प्रिय की; **लभते**—प्राप्ति करता है; **इति**—इति।

अनुवाद

जो भी व्यक्ति इन नारदोक्त निर्देशों में विश्वास करता है तथा उनके द्वारा आश्वस्त होता है उसे भक्ति का आशीर्वाद मिलेगा तथा वह प्रियतम भगवान् को प्राप्त करेगा। हाँ, वह प्रियतम भगवान् को प्राप्त करेगा।

तात्पर्य

नारद भक्ति-सूत्रों की समाप्ति यह कहकर करते हैं कि व्यक्ति को उन्हें श्रद्धा से सुनना होगा। जिज्ञासा तथा संशय भी गुरु के समक्ष लाए जा सकते हैं, जैसे अर्जुन ने अपने संशयों को भगवान् कृष्ण के समक्ष अभिव्यक्त किया था। किन्तु अविश्वास का भाव हमें समझने से रोकेगा। जैसा भगवान् कृष्ण कहते हैं,

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

"हे शत्रुओं के विजेता! इस भक्तिमय सेवा के प्रति अश्रद्धालुगण मुझे नहीं पा सकते। अतः वे इस भौतिक संसार में जन्म और मृत्यु के पथ पर लौट आते हैं।" (*भ.गी.* ९.३) और जैसा *श्वेताश्वतर उपनिषद्* (६.२३) में कहा गया है,

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

"भगवान् एवं गुरु, दोनों के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा रखने वाले महात्माओं के प्रति, *वेदों* के सारे अर्थ स्वयमेव प्रकाशित हो जाते हैं।"

यह अंतिम सूत्र घोषणा करता है कि यदि कोई व्यक्ति *नारद-भक्ति-सूत्र* को श्रद्धा से सुने, तो नारद उसे परम पुरुषोत्तम भगवान् में भक्ति का आशीर्वाद देते हैं। इसका अर्थ है कि नारद मुनि इन सूत्रों की शिक्षाओं के माध्यम से उपस्थित हैं तथा कार्यशील हैं। नारद के जिस शक्तिवान आशीर्वाद ने अनेक व्यक्तियों को दृढ़ भक्त बनने में समर्थ किया, वही आशीर्वाद अब भी उनकी वाणी, या शिक्षाओं द्वारा उपलब्ध है। जैसा कि *स्कंद पुराण* कहता है, "मेरे प्रिय नारद, सब संतों में, तुम इतने महान तथा यशस्वी हो कि बस तुम्हारी शुभकामनाओं द्वारा एक नीच व्याध भी भगवान् कृष्ण का महान उच्चावस्थित भक्त बन गया है।" (*भक्तिरसामृतसिन्धु*)

आइए, हम आभारसहित इस वरदान को ग्रहण करें तथा अपने दिव्यानंद तथा लाभ हेतु *नारद-भक्ति-सूत्र* का बारम्बार श्रवण करें। नारद हमें जीवन की परम गति की प्राप्ति का आशीर्वाद देना चाहते हैं। किन्तु हमें स्वयं से पूछना चाहिए, "मैं क्या चाहता हूँ!" यदि हम कृष्ण-भक्ति को प्राप्त करना चाहें तथा यदि हम कृष्णभावनामृत की शिक्षाओं के अनुरूप अपना जीवन बितायें, तो नारद वचन देते हैं कि हम इस व अगले जीवन में परम गति प्राप्त करेंगे : हम परम प्रेमास्पद भगवान् कृष्ण की भक्तिमय सेवा करेंगे। जैसा रूप गोस्वामी अपने *भक्तिरसामृतसिन्धु* में कहते हैं, भक्ति की लक्ष्य-प्राप्ति बहुत दुर्लभ है। भगवान् मोक्ष प्रदान करने जितनी सरलता से भक्ति प्रदान नहीं करते, क्योंकि भक्ति देने पर जीव उनकी प्रत्यक्ष सेवा का अवसर पा जाता है। शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित को बताते हैं, "भगवान् का अनुग्रह

पाने में प्रवृत्त लोग बहुत सरलता से भगवान् द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु भगवान् अपने प्रति प्रत्यक्ष सेवा का अवसर सरलता से नहीं देते।" (*भागवत* ५.६.१८)

नारद हमें दो बार विश्वास दिलाते हैं, जिससे उसके संबंध में कोई संदेह न रह जाए : यद्यपि *भक्ति* बहुत दुर्लभ तथा दुष्प्राप्य है, तथापि नारद एवं उनके प्रतिनिधियों के आशीर्वाद से हम परम प्रेमास्पद को प्राप्त करेंगे, हम परम प्रेमास्पद को प्राप्त करेंगे।

—उन्मीलनी महाद्वादशी के दिन, नवम्बर २४, १९८९, जगन्नाथपुरी में, कृष्णकृपाश्रीमूर्ति अभयचरणारविन्द भक्तिवेदांत स्वामी प्रभुपाद की इच्छानुसार पूर्ण हुआ।

लेखक-परिचय

कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद का जन्म १८९६ ई. में भारत के कलकत्ता नगर में हुआ था। अपने गुरु महाराज श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी से १९२२ में कलकत्ता में उनकी प्रथम भेंट हुई। एक सुप्रसिद्ध धर्म तत्त्ववेत्ता, अनुपम प्रचारक, विद्वान-भक्त, आचार्य एवं चौसठ गौड़ीय मठों के संस्थापक श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती को ये सुशिक्षित नवयुवक प्रिय लगे और उन्होंने वैदिक ज्ञान के प्रचार के लिए अपना जीवन उत्सर्ग करने की इनको प्रेरणा दी। श्रील प्रभुपाद उनके छात्र बने और ग्यारह वर्ष बाद (१९३३ ई.) प्रयाग (इलाहाबाद) में उनके विधिवत् दीक्षा-प्राप्त शिष्य हो गये।

अपनी प्रथम भेंट, १९२२ ई. में ही श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने श्रील प्रभुपाद से निवेदन किया था कि वे अंग्रेजी भाषा के माध्यम से वैदिक ज्ञान का प्रसार करें। आगामी वर्षों में श्रील प्रभुपाद ने *श्रीमद्भगवद्गीता* पर एक टीका लिखी, गौड़ीय मठ के कार्य में सहयोग दिया तथा १९४४ ई. में बिना किसी की सहायता के एक अंग्रेजी पाक्षिक पत्रिका आरम्भ की जिसका सम्पादन, पाण्डुलिपि का टंकण और मुद्रित सामग्री के प्रूफ शोधन का सारा कार्य वे स्वयं करते थे।

उन्होंने एकएक प्रति निःशुल्क बाँटकर भी इसके प्रकाशन को बनाये रखने के लिए संघर्ष किया। एक बार आरम्भ होकर फिर यह पत्रिका कभी बन्द नहीं हुई। अब यह उनके शिष्यों द्वारा पश्चिमी देशों में भी चलाई जा रही है और तीस से अधिक भाषाओं में छप रही है।

श्रील प्रभुपाद के दार्शनिक ज्ञान एवं भक्ति की महत्ता पहचान कर "गौड़ीय वैष्णव समाज" ने १९४७ ई. में उन्हें भक्तिवेदान्त की उपाधि से सम्मानित किया। १९५० ई. में चौवन वर्ष की अवस्था में श्रील प्रभुपाद ने गृहस्थ जीवन से अवकाश लेकर वानप्रस्थ ले लिया जिससे वे अपने अध्ययन और लेखन के लिए अधिक समय दे सकें। तदनन्तर श्रील प्रभुपाद ने श्री वृन्दावन धाम की यात्रा की, जहाँ वे बड़ी ही सात्त्विक परिस्थितियों में मध्यकालीन ऐतिहासिक श्रीराधा-दामोदर मन्दिर में रहे। वहाँ वे अनेक वर्षों तक गम्भीर अध्ययन एवं लेखन में संलग्न रहे। १९५९ ई. में उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया। श्रीराधा-दामोदर मन्दिर में ही श्रील प्रभुपाद ने अपने जीवन के सबसे श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का आरम्भ किया था! यह ग्रन्थ था अठारह हजार श्लोक संख्या के *श्रीमद्भागवत* पुराण का अनेक खण्डों में अंग्रेजी में अनुवाद और व्याख्या। वहीं उन्होंने "अन्य लोकों की सुगम यात्रा" नामक पुस्तिका भी लिखी थी।

श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ के तीन खण्ड प्रकाशित करने के बाद श्रील प्रभुपाद सितम्बर १९६५ ई. में अपने गुरुदेव का धर्मानुष्ठान पूरा करने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका गये। अन्ततः श्रील प्रभुपाद ने भारतवर्ष के श्रेष्ठ दार्शनिक और धार्मिक ग्रन्थों के प्रामाणिक अनुवाद, टीकाएँ एवं संक्षिप्त अध्ययन-सार के रूप में साठ से अधिक ग्रन्थ-रत्न प्रस्तुत किये।

१९६५ ई. में जब श्रील प्रभुपाद एक मालवाहक जलयान द्वारा प्रथम बार न्यूयार्क नगर में आये तो उनके पास एक पैसा भी नहीं था। अत्यन्त कठिनाई भरे लगभग एक वर्ष के बाद जुलाई १९६६ ई. में उन्होंने, "अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ" की स्थापना की। १४ नवम्बर १९७७ ई. को, कृष्ण-बलराम मन्दिर, श्रीवृन्दावन धाम में अप्रकट होने के पूर्व तक श्रील प्रभुपाद ने अपने कुशल मार्ग-निर्देशन के कारण इस संघ को विश्वभर में सौ से अधिक मन्दिरों के रूप में आश्रमों, विद्यालयों, मन्दिरों, संस्थाओं और कृषि-समुदायों का बृहद् संगठन बना दिया।

१९६८ ई. में श्रील प्रभुपाद ने प्रयोग के रूप में, वैदिक समाज के आधार पर पश्चिमी वर्जीनिया की पहाड़ियों में एक नव-वृन्दावन की स्थापना की। दो

हजार एकड़ से भी अधिक के इस समृद्ध नव-वृन्दावन के कृषि-क्षेत्र से प्रोत्साहित होकर उनके शिष्यों ने संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य देशों में भी ऐसे अनेक समुदायों की स्थापना की।

१९७२ ई. में श्रील प्रभुपाद ने डल्लास, टेक्सास में गुरुकुल विद्यालय की स्थापना द्वारा पश्चिमी देशों में प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा की वैदिक प्रणाली का सूत्रपात किया। तब से, उनके निर्देशन के अनुसार श्रील प्रभुपाद के शिष्यों ने सम्पूर्ण विश्व में दस से अधिक गुरुकुल खोले हैं। श्रीवृन्दावन धाम का भक्तिवेदान्त स्वामी गुरुकुल इनमें सर्वप्रमुख है।

श्रील प्रभुपाद ने श्रीधाम-मायापुर, पश्चिम बंगाल में एक विशाल अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र के निर्माण की प्रेरणा दी। यहीं पर वैदिक साहित्य के अध्ययनार्थ सुनियोजित संस्थान की योजना है, जो अगले दस वर्ष तक पूर्ण हो जाएगा। इसी प्रकार श्रीवृन्दावन धाम में भव्य कृष्ण-बलराम मन्दिर और अन्तर्राष्ट्रीय अतिथि भवन तथा श्रील प्रभुपाद स्मृति संग्रहालय का निर्माण हुआ है। ये वे केन्द्र हैं जहाँ पाश्चात्य लोग वैदिक संस्कृति का मूल रूप से प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। मुंबई में भी श्री राधारासबिहारीजी मन्दिर के रूप में एक विशाल सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक केन्द्र का विकास हो चुका है। इसके अतिरिक्त भारत में बारह अन्य महत्त्वपूर्ण स्थानों में हरे कृष्ण मन्दिर खोलने की योजना कार्याधीन है।

किन्तु, श्रील प्रभुपाद का सबसे बड़ा योगदान उनके ग्रन्थ हैं। ये ग्रन्थ विद्वानों द्वारा अपनी प्रामाणिकता, गम्भीरता और स्पष्टता के कारण अत्यन्त मान्य हैं और अनेक महाविद्यालयों में उच्चस्तरीय पाठ्यग्रन्थों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। श्रील प्रभुपाद की रचनाएँ ५० से अधिक भाषाओं में अनूदित हैं। १९७२ ई. में केवल श्रील प्रभुपाद के ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए स्थापित भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, भारतीय धर्म और दर्शन के क्षेत्र में विश्व का सबसे बड़ा प्रकाशक हो गया है। इस ट्रस्ट का एक अत्यधिक आकर्षक प्रकाशन श्रील प्रभुपाद द्वारा केवल अठारह मास में पूर्ण की गई उनकी एक अभिनव कृति है जो बंगाली धार्मिक महाग्रन्थ श्रीचैतन्यचरितामृत का सत्रह खण्डों में अनुवाद और टीका है।

बारह वर्षों में, अपनी वृद्धावस्था की चिन्ता न करते हुए परिव्राजक (व्याख्यान-पर्यटक) के रूप में श्रील प्रभुपाद ने विश्व के छहों महाद्वीपों की चौदह परिक्रमाएँ कीं। इतने व्यस्त कार्यक्रम के रहते हुए भी श्रील प्रभुपाद की उर्वरा लेखनी अविरत चलती रहती थी। उनकी रचनाएँ वैदिक दर्शन, धर्म, साहित्य और संस्कृति के एक यथार्थ पुस्तकालय का निर्माण करती हैं। ❀

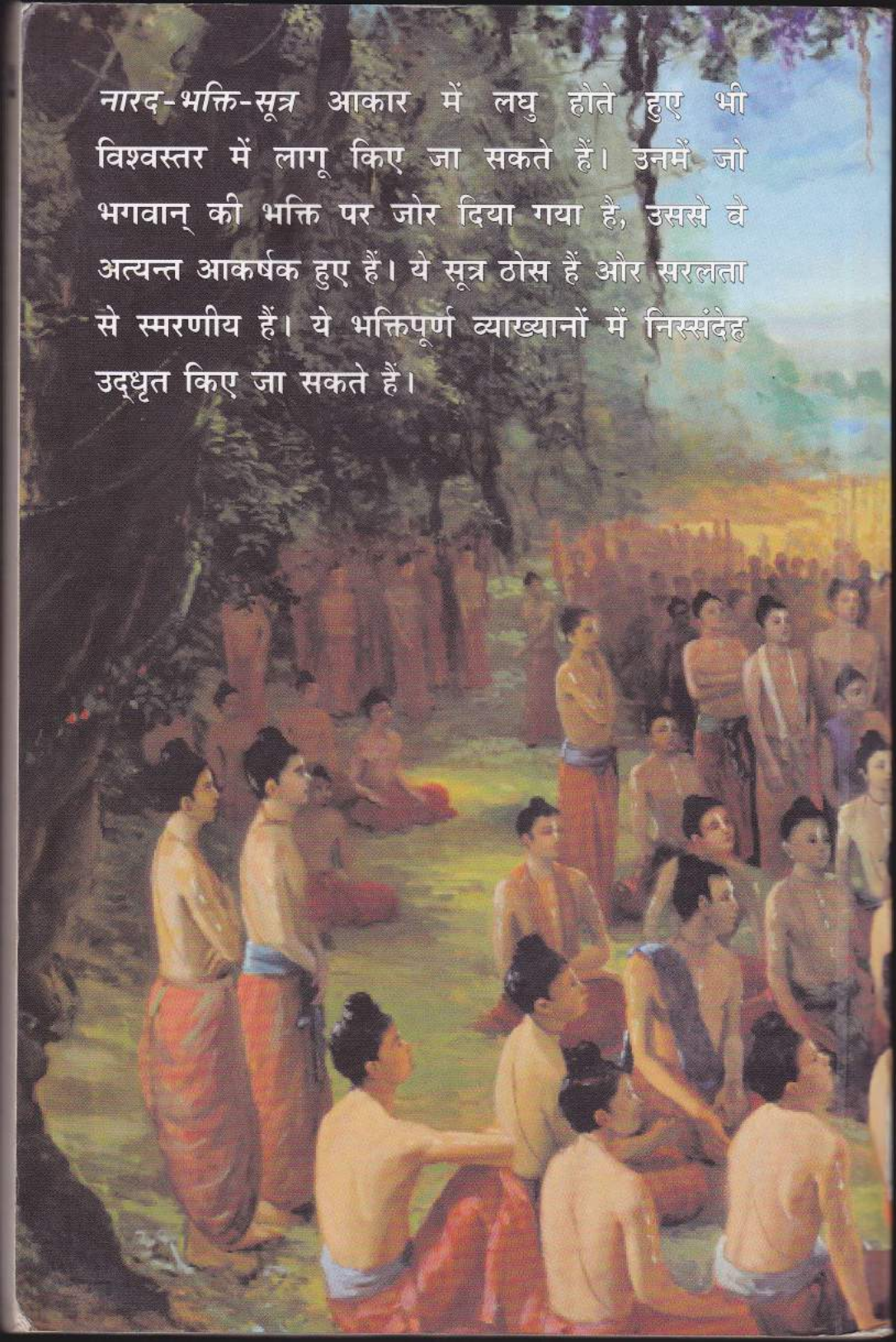

नारद-भक्ति-सूत्र आकार में लघु होते हुए भी विश्वस्तर में लागू किए जा सकते हैं। उनमें जो भगवान् की भक्ति पर जोर दिया गया है, उससे वे अत्यन्त आकर्षक हुए हैं। ये सूत्र ठोस हैं और सरलता से स्मरणीय हैं। ये भक्तिपूर्ण व्याख्यानों में निस्संदेह उद्धृत किए जा सकते हैं।